सहजानंद शास्त्रमाला

ज्ञानार्णव प्रवचन

दशम भाग

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर,इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक **'ज्ञानार्णव प्रवचन दशम भाग'** अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरूतर कार्य किया गया है।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को http://www.sahjanandvarnishastra.org/वेबसाइड पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुन: प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे ।

इस कार्य को सम्पादित करने में **श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर** इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु श्री **सुरेशजी पांड्या**, इन्दौर के हस्ते गुप्तदान रु. 3500/- प्राप्त हुए, तदर्थ हम इनके आभारी हैं। ग्रन्थ के टंकण कार्य में **श्रीमती मनोरमाजी, गांधीनगर** एवं प्रूफिंग करने हेतु **श्रीमती प्रीति जैन,** इन्दौर का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत
विकास छाबड़ा
53, मल्हारगंज मेनरोड़
इन्दौर (म०प्र०)
Phone-0731-2410880, 9753414796
Email-vikasnd@gmail.com
www.jainkosh.org

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी"सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित

आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आतमराम।।टेक।।

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान।।

सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूष दुःख की खान।
निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान।।

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम।।
अहिंसा परमोधर्म

आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ।।टेक।।

हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन० ,मैं सहजानंद०।।१।।

हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर में मेरा कुछ काम नहीं।
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०।।२।।

आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०।।३।।

Table of Contents

प्रकाशकीय 2

आत्मकीर्तन 3

आत्म रमण 4

श्लोक- 766 1

श्लोक- 767 3

श्लोक- 768 4

श्लोक- 769 6

श्लोक- 770 7

श्लोक- 771 11

श्लोक- 772 13

श्लोक- 773 19

श्लोक- 774 25

श्लोक- 775 27

श्लोक- 776 29

श्लोक- 777 30

श्लोक- 778 33

श्लोक- 779 36

श्लोक- 780 40

श्लोक- 781 42

श्लोक- 782 44

श्लोक- 783 46

श्लोक- 784 49

श्लोक- 785 53

श्लोक- 786 55

श्लोक- 787 56

श्लोक- 788 57

श्लोक- 789 58
श्लोक- 790 61
श्लोक- 791 63
श्लोक- 792 65
श्लोक- 793 67
श्लोक- 794 70
श्लोक- 795 72
श्लोक- 796 73
श्लोक- 797 74
श्लोक- 798 75
श्लोक- 799 76
श्लोक- 800 78
श्लोक- 801 81
श्लोक- 802 84
श्लोक- 803 86
श्लोक- 804 89
श्लोक- 805 92
श्लोक- 806 93
श्लोक- 807 96
श्लोक- 808 98
श्लोक- 809 103
श्लोक- 810 105
श्लोक- 811 109
श्लोक- 812 111
श्लोक- 813 113

ज्ञानार्णव प्रवचन दशम भाग

श्लोक- 766

लोकद्वयविशुद्धयर्थं भावशुद्धयर्थमञ्जसा।
विद्याविनयवृद्धयर्थं वृद्धसेवैव शस्यते।।

वृद्धसेवा के कर्तव्य का संदेश- जिन पुरुषों को इस लोक और परलोक की विशुद्धि चाहिए अर्थात् जो इस लोक में भी धार्मिक वातावरण सहित शुद्धि और निर्दोषता सहित जीवन बिताने के इच्छुक हैं और परलोक में भी धार्मिक वातावरण चाहते हैं; इस प्रकार जो शान्तिपथ में चलने के इच्छुक हैं उन पुरुषों को वृद्धसेवा करना चाहिये। वृद्धसेवा को प्रशंसा के योग्य कहा गया है। वृद्ध का अर्थ है गुरुजन। जो ज्ञान और आचरण में बढ़े हैं ऐसे गुरुजनों की संगति व सेवा करना हितकारी है। जिन मनुष्यों को अपने आत्मा की उत्तरोत्तर निर्मलता चाहिए, विषय कषायों से हटकर एक निज ज्ञायकस्वरूप के चिन्तवन में समय बीते ऐसी आन्तरिक परिणति चाहिए उन मनुष्यों का कर्तव्य है कि वे गुरुजनों की सेवा विशेषतया करें। इस ही प्रकार विद्या और विनय ये दोनों गुण भी लोक में सुख को उत्पन्न करने वाले हैं। विद्या से इस मनुष्य की इस लोक में भी उन्नति है और यह विद्या आत्मविद्या का रूप रखकर परमनिर्वाण का कारण बनती है, इसी प्रकार विनयभाव, विनय का अर्थ है विशेषरूप से नय मायने ले जाना। मनुष्य को जो उन्नति मार्ग में विशेष रूप से ले जाय उस भाव का नाम है विनय। जितनी नम्रता होगी, जितना आत्मा की ओर झुकाव होगा उतनी ही पवित्रता बढ़ती है। तो विद्या और विनय की वृद्धि अति आवश्यक है, उसके लिए गुरुजनों की सेवा प्रशंसनीय कही गयी है। बड़ों को निकट रहने से जिनको सांसारिक विषय भोगों से वैराग्य हुआ है और जो आत्मा के हित की ही कामना रखते हैं ऐसे बड़े के निकट रहने से, उनका अनुगामी बनने से यह लोक और परलोक सुधरता है, अपने परिणाम भी शुद्ध रहते हैं, विद्या विनय आदिक गुण बढ़ते हैं, मान कषाय समाप्त होता है।

वृद्धसेवा में अहङ्कार विलय का पुण्य अवसर- गुरुजन के निकट अभिमान नहीं रह सकता क्योंकि जिसे चाहिए अपना सम्मान, अभिमान, वह पद पद में अपना अपमान महसूस करेगा,

क्योंकि प्रकृत्या यह बात है कि जितनी पूछ गुरुजन की होगी उतनी साधारण पुरुष की तो न होगी, यह तो एक लोकपद्धति है। जिससे किन्हीं को कुछ लाभ मिलता हो, आत्महित का पद मिलता हो वे लोग तो उसका आदर करेंगे ही। अब साधारण पुरुष जिसे अभिमान है वह ऐसे गुरुजनों का सम्मान देखकर और अपना सम्मान नहीं हो रहा, यह देखकर दु:खी रहेगा, वह साथ कैसे निभ सकता है। तो अभिमान को पहले गलाना पड़ेगा तब गुरुजन के निकट रह सकते हैं। दूसरी बात- रहा सहा जो कुछ मानकषाय है वह भी गुरुजन के निकट रहने से दूर हो सकता है। और, जब अहंकार दूर हो गया तब ही वास्तविक विद्या अपने में प्रकट होगी। अहंकार तो एक बड़ा दुर्गुण है। अपनी पर्याय में अपने आपके किसी भी भाव में यह मैं हूँ, बड़ा हूँ, इस प्रकार के भाव में, इस प्रकार के अंधकार में तो प्रभुस्वरूप ढक जाता है। उसे प्रभु के दर्शन नहीं होते। तो जिन्हें भगवत् प्रभु के दर्शन करने की इच्छा हो उन्हें अहंकार तो पहले मिटाना चाहिए। जहाँ अहंकार रहे वहाँ भगवान के स्वरूप का बोध नहीं हो सकता।

अहङ्कारविनाश बिना परमात्मतत्त्वोपलब्धि की असंभवता- एक गाँव में एक नकटा रहता था। उसकी नाक कटी हुई थी। सो उसे सभी लोग चिढ़ाया करते थे। जब वह तंग आ गया तो सोचा कि किसी उपाय से अगर गाँव के सभी लोगों को नकटा बना दें तो फिर लोग मुझे चिढ़ायेंगे नहीं। सो जब कोई चिढ़ाने लगा तो वह नकटा कहता है कि तुम क्या जानो इस नकटेपन का स्वाद? जब तक हमारे भी नाक की नोक थी तब तक हमें प्रभु के दर्शन नहीं हुए, अब नाक कटा देने से प्रभु के साक्षात् दर्शन होते हैं। तो वह सोचता है कि अगर नाक कटा लेने से प्रभु के दर्शन हो जायें तो इसमें क्या नुकसान? प्रभुदर्शन से बढ़कर तो और कुछ नहीं है। सो उसने अपनी नाक कटा ली। जब नाक कट जाने पर भी प्रभु के दर्शन न हुए तो वह नकटे से कहने लगा कि हमें तो प्रभु के साक्षात् दर्शन नहीं हो रहे? तो वह पहले वाला नकटा कहता है कि तू बावला मत बन। नाक कटाने से कहीं भगवान के दर्शन नहीं होते। अब तो नाक कट ही गई। तू अब सबसे यही कह कि नाक कट जाने से प्रभु के साक्षात् दर्शन होते हैं। और, जो नाक कटावे उसकी नाक काटकर यही मंत्र दिया कर। तो वह भी सबसे यही कहने लगा। इस प्रकार गाँव के सभी लोग नकटे हो गए। केवल गाँव का मुखिया बच रहा। तो एक दिन गाँव में सभा हुई। सभी लोग जुड़े। तो मुखिया कहता है कि तुम सभी लोग तो बड़े अच्छे लग रहे, यह मेरे क्या टुनक सी लगी है जिससे हम अच्छे नहीं लगते? सो गाँव के सभी नकटे बोले कि मुखिया जी पहले हमारी भी नाक ऊँची उठी हुई थी। सो जब तक नाक की टुनक थी तब तक प्रभु के साक्षात् दर्शन न होते थे। प्रभु के साक्षात् दर्शन करने के लिए हम सभी ने अपनी नाक कटा डाली। तो मुखिया भी नाक कटाने को तैयार हो गया। परन्तु जो प्रथम नकटा था, जिसका सब षड्यन्त्र रचा हुआ था उसे उस पर दया आयी, उसने कहा,

मुखिया जी हम तुमसे दो मिनट अकेले में बात करेंगे। तो मुखिया को अकेले में उसने समझाया कि मैं नकटा था, सभी लोग मुझे चिढ़ाते थे, सो मैंने एक ऐसा उपाय रचा था कि किसी तरह से सभी लोग नकटे हो जायें तो फिर मुझे कोई चिढ़ायेगा नहीं। कहीं नाक के कटा लेने से भगवान के साक्षात् दर्शन नहीं हो जाते। एक आदमी तो सही रहना चाहिए कि कैसा होता है मनुष्य। प्रयोजन यह है कि नाक का अर्थ, अहंकार कर दें। लोग कहते भी हैं कि उसने हमारी नाक ऊँची रखने के लिये यों किया। नाक का अर्थ अभिमान कर दो तो सारी कथा ठीक बैठ जायेगी। जब तक अभिमान रहेगा तब तक प्रभु के दर्शन नहीं हो सकते।

वृद्धसेवा के लाभ- तो गुरुजनों की सेवा करने से जो जो गुण प्रकट होते हैं वहाँ यह भी गुण प्रकट होता है कि उसके नम्रता बढ़ती है, अभिमान दूर होता है और फिर उसके ज्ञानप्रकाश होता है। अहंकार के अंधकार से ज्ञानरूपी सूर्य का प्रकाश ढक गया है। गुरुसेवा की कितनी प्रशंसा की जाय, सच पूछो तो इस आत्मा का शरण ही गुरुसेवा है। जिसका कोई गुरु नहीं है, जिससे अपने हित की कोई चर्चा नहीं की जा सकती है ऐसा पुरुष एक किंकर्तव्यविमूढ़ रहता है, अपना जीवन यों ही निर्यापन किया करता है। वृद्धसेवा से समस्त व्रत विशुद्ध बनते हैं और खासकर ब्रह्मचर्य महाव्रत की तो बहुत पुष्टि होती है। बड़ों की संगति न करके छोटे रागीद्वेषी मलिन पुरुषों की संगति से सभी प्रकार के विकार उत्पन्न होते रहते हैं। जिन्हें लोक में अपनी सिद्धि चाहिए, परिणामों में निर्मलता चाहिए, विद्या और विनय की बढ़वारी चाहिए उन्हें गुरुसेवा करना अनिवार्य है।

श्लोक- 767

कषायदहन: शान्तिं याति रागादिभि: समम्।
चेत: प्रसत्तिमाधत्ते वृद्धसेवावलम्बिनाम्।।

वृद्धसेवा से कषायदहन का शमन- गुरुसेवा करने वाले मनुष्य के कषायें शान्त हो जाती हैं, रागद्वेष मोहादिक विकार दूर हो जाते हैं। चित्त प्रसन्न और निर्मल हो जाता है। गुरुसेवा करने से क्रोध भी शान्त हो जाता है। अगर कोई गुरु के सामने क्रोध करे तो वह लोगों की निगाह से गिर जाता है। यों ही अगर कोई गुरु के सामने मान से बैठा हो तो उसका मान भी खतम हो जाता है। गुरुजनों की सेवा में रहकर माया का कोई काम ही नहीं है। वहाँ कोई लालच तो होता नहीं। मायाचार का सम्बन्ध लालच से होता है। किसी वस्तु की तृष्णा जग गयी हो, लोभ लालच हो तो

उसकी प्राप्ति के लिए अनेक मायाचार किये जाते हैं। सो वहाँ लालच का तो कोई प्रश्न है नहीं। गुरु की सेवा में रह रहे हैं तो मायाचार भी प्रकट नहीं होता। और, फिर गुरुजनों के गुणों के स्मरण के प्रताप से परिणाम ऐसे निर्मल होते हैं कि ये कषायें स्वयं शान्त हो जाती हैं। जब कषायें शान्त हुई तो चित्त प्रसन्न हो जाता है। जैसे वर्षाकाल में अनेक जगह पानी भरा हुआ होता है, वह गंदा होता है, निर्मलता उन तलैयों में वैसी नहीं रहती है जैसी कि शरदऋतु में होती है। शरदऋतु में जो भी कीच होता है वह सब नीचे बैठ जाता है तो पूर्ण जल निर्मल हो जाता है। इसी तरह हमारे जो उपयोग चल रहे हैं इनके साथ कषायकर्दम लगा हुआ है, नाना प्रकार के रागद्वेष भाव चल रहे हैं, तब वहाँ यह चित्त, यह ज्ञान कैसे प्रसन्न रह सके, कैसे निर्मल रह सकता है? जब बड़े जनों की सेवारूपी शरदऋतु आये तो यह कषाय कीच अपने आप शान्त हो जाता है और चित्त निर्मल हो जाता है। ज्ञान सम्यक् रहता है। यही तो सुख है। कल्पना करो कि वैभव खूब इकट्ठा हो जाय पर चित्त में कालिमा बनी रहे तो उसे क्या सुख है? लखपति, करोड़पति भी हो और किन्हीं बातों से, किसी के बैर से, परिजनों में न बनने से, किसी को प्रतिकूल समझने से अनेक बातें होती हैं, यदि चित्त में निर्मलता नहीं है, प्रसन्नता नहीं है, चिंता और शंका का भार लदा है तो वहाँ उसे क्या सुख है? और, कोई बड़ा गरीब है, पर विवेक से रहता है, न्याय से अपनी आजीविका चलाता है, दूसरों से अच्छा व्यवहार रखता है तो ऐसे पुरुष का चित्त निर्मल रहता है और वह सुखी रहता है, प्रसन्न रहता है। तो गुरुवों की सेवा करने से यह प्रसाद प्रकट होता है, इसलिए वृद्धसेवा से समझिये कितनी शान्ति होती है, कितना चित्त प्रसन्न और निर्मल हो जाता है?

श्लोक- 768

निश्चलीकुरु वैराग्यं चित्तदैत्यं नियन्त्रय।
आसादय वरां बुद्धिं दुर्बुद्धे वृद्धसाक्षिकम्।।

गुणवृद्ध सत्पुरुषों की साक्षिता में वैराग्य और चित्तनियन्त्रण के कर्तव्य का संदेश- हे दुर्बुद्धि आत्मन् ! अर्थात् जिसका चित्त किसी विषयकषायों की ओर लग रहा है ऐसे हे पुरुष, देख अपने आत्मा की भलाई के लिए अपने आत्मा पर करुणा कर। गुरुजनों की साक्षीपूर्वक अर्थात् गुरुजनों के निकट रहकर तू अपने वैराग्य को निश्चल बना। राग एक बहुत मलिन परिणाम है। परपदार्थ अपने से अत्यन्त भिन्न हैं और उनसे कोई नाता भी नहीं है। सभी पदार्थ अपने-अपने स्वरूप में अपना

अस्तित्व रखते हैं, फिर भी किसी पर की ओर राग पहुँचना यह कितना अंधकार है? इस राग में ज्ञान की प्रसन्नता नहीं रह पाती। जब किसी चीज में राग न उठ रहा हो, शान्त मुद्रा में बैठे हों तब की मुद्रा में देखो कितनी प्रसन्नता रहती है? जहाँ दिखावट है, बनावट है वहाँ प्रसन्नता नहीं रह पाती। जब रागभाव आये तो चित्त की निर्मलता दूर हो जाती है। यदि प्रसन्नता चाहिए तो राग हटाने का प्रयत्न करें, यह बात मिलेगी गुरुजनों की सेवा से, संगति से।

हे आत्मन् ! तू लेश मात्र भी सांसारिक विषयभोगों से राग मत कर। यह गुण प्राप्त होगा वृद्धसेवा से। लौकिक हिसाब से भी देखो। जिस घर में अपने माता, पिता, वृद्ध पुरुषों की सेवा हो रही है उन बच्चों की बुद्धि विकसित होती है, और हर कामों में उनकी बुद्धि काम देती जाती है। और, जो माता-पिता को दु:खी रखते हैं उन पुरुषों की बुद्धि भी अव्यवस्थित रहती है, काम नहीं कर पाती है, फिर जो मोक्षमार्ग के गुरुजन हैं, सम्यग्दृष्टि मनुष्य हैं, ज्ञानीजन हैं उनकी सेवा करने से, उनकी संगति में रहने से बुद्धि की स्वच्छता अधिकाधिक बढ़ती है, संसार देह भोगों से वैराग्य की प्राप्ति होती है। इस कारण वृद्ध पुरुषों के निकट रहकर अपने वीतराग भाव की वृद्धि करें, वृद्धसेवा से चित्तरूपी यह राक्षस जो कि अपनी स्वच्छन्दता से जिस चाहे काम में पुरुष को लगा देते हैं उसका नियंत्रण करें। इस चित्त का नियंत्रण गुरुजनों की सेवा से होता है। गुरुसेवा करके अपनी बुद्धि को अंगीकार करें, निर्मल बनावें। ये सभी गुण गुरुजनों की सेवा करने से प्राप्त होते हैं।

आत्मध्यान द्वारा आत्महित करने में वास्तविक आत्म-करुणा- देखिये आत्मा का हित है आत्मा के ध्यान में। जीव सभी किसी न किसी का ध्यान करते ही रहते हैं। बालक, जवान, बूढ़े सभी को देखो वे किसी न किसी का ध्यान बनाये ही रहते हैं, पर यह निर्णय करें कि किसके ध्यान में आत्म-सन्तोष मिलता है और किसके ध्यान से आत्मा में विह्वलता बनती है? जो स्वयं रागी, मोही, द्वेषी प्राणी हैं उनकी प्रीति में हित नहीं है, विह्वलता बढ़ती है। और जो राग, द्वेष, मोह से अलग हैं ऐसे गुरुजनों की सेवा में रहने से एक शान्ति और सन्तोष प्राप्त होता है। और, सबसे उत्कृष्ट शान्ति तो रागद्वेषरहित केवल ज्ञानानन्द स्वरूप निज अन्तस्तत्त्व की उपासना से प्रकट होती है, अर्थात् आत्मध्यान ही इस जीव का वास्तविक शरण है। वह आत्मध्यान कैसे प्रकट हो उसके सम्बन्ध में इस ग्रन्थ में वस्तु का वर्णन किया गया है। आत्मध्यान का पात्र वही पुरुष होता है जिसे सम्यक्त्व जगा हो, यथार्थ ज्ञान प्रकट हुआ हो, अपना आचरण आत्मा का अनुराग बना रहा हो उसे आत्मध्यान की सिद्धि होती है। तो परमशरणभूत आत्मा की सिद्धि के लिए हमारा कर्तव्य है कि हम सम्यक्त्व का और ज्ञान का उपाय बनायें और ऐसे ही ज्ञान में रत रहने का उद्यम किया करें।

श्लोक- 769

स्वतत्त्वनिकषोद्भूतं विवेकालोकवर्धितम्।
येषां बोधमयं चक्षुस्ते वृद्धा विदुषां मता:।।

वृद्धजनों का परिचय- वृद्ध पुरुष का लक्षण कह रहे हैं। वृद्ध का अर्थ बूढ़ा नहीं है। वृद्ध का अर्थ है जो ज्ञान में बढ़े हैं, जिनमें गम्भीरता बढ़ी है, जो ज्ञान, आचरण में बढ़े हैं। ऐसे वृद्ध पुरुषों के निकट रहने से सर्व गुण प्रकट हो जाते हैं। वास्तव में वृद्ध पुरुष वे हैं जिसमें आत्मतत्त्वरूपी कसौटी से उत्पन्न हुए भेदविज्ञान से ज्ञान बढ़ा है, अर्थात् जिनका ज्ञानचक्षु प्रकट हुआ है। आत्मा का ज्ञान स्वरूप है। यह ज्ञान प्रकृष्ट रूप से बढ़े, ऐसी स्थिति प्राप्त होती है ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व के ध्यान से। और ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व का ध्यान यह बनेगा भेदविज्ञान के उपाय से। जब हम अपने आपमें यह पिछान लेंगे कि रागद्वेष मोह परिणाम, ये तर्क-वितर्क ये तो मैं नहीं हूँ, और मैं केवल शुद्ध ज्ञानज्योति हूँ, ज्ञानप्रकाशमात्र हूँ, ऐसा भेद करेंगे तब तो रागादिक भावों को छोड़कर अपने ज्ञानस्वरूप को अंगीकार करेंगे तो भेदविज्ञान के उपयोग से ही ये समस्त कल्याण सिद्ध होते हैं। भेदविज्ञान बिना कुछ भी सिद्धि नहीं है। जितने भी महान आत्मा सिद्ध भगवंत बने हैं, संसार संकटों से छूटकर शुद्ध ज्ञानानन्द का अनुभव करते हैं उन सबकी यह जो परमपद की परिस्थिति है वह भेदविज्ञान के प्रताप से है। वे भी संसार में रागी, द्वेषी, मोही बनकर जन्म-मरण किया करते थे। जब उनके भेदविज्ञान प्रकट हुआ और उसके प्रताप से फिर परतत्त्वों को लगाकर स्वतत्त्व को ग्रहण किया। मैं केवल ज्ञानमात्र हूँ, देह से भी न्यारा केवल ज्ञान स्वरूप हूँ ऐसे ज्ञानस्वरूप की जिन्होंने निरन्तर भावना भाई है ऐसे पुरुष ही तो सिद्ध भगवंत महंत हुए हैं। और, जितने भी जीव आज तक इस संसार में बँधे पड़े है, जन्म-मरण कर रहे हैं वे सब एक भेदविज्ञान के अभाव से ही ऐसा बन्धन पा रहे हैं। तो जिन्हें भेदविज्ञान प्रकट हुआ है ऐसे इस उपाय से जिन्हें अपना ज्ञान स्वभाव प्रतीति में आ रहा है मैं ज्ञान स्वभाव मात्र हूँ ऐसा जिनका अनुभव चल रहा है वे पुरुष वृद्ध कहलाते हैं, केवल अवस्था में वृद्ध होने को ही वृद्ध नहीं कहते हैं।

वृद्धसेवा से आत्मगुणों का लाभ- आत्महितंकर गुणों को संक्षेप में कहा जाय तो वे हैं तीन- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। जिन गुणों के प्रताप से हम उन्हें गुरु कहते हैं। गुरु का स्वरूप ज्ञान और वैराग्य की मूर्तिरूप कहा गया है। जो विषयों की आशा के वश न हों, आरम्भरहित हों, परिग्रह से दूर हों, जिनका ज्ञान, ध्यान और तपश्चरण ही कार्य हो रहा हो ऐसे

पुरुष गुरुजन कहलाते हैं और ऐसे गुरुजनों की सेवा से यह लोक भी विशुद्ध होता, परलोक भी शुद्ध होता, अपने परिणामों की निर्मलता भी बढ़ती, विद्या विनय सभी गुण वृद्धि को प्राप्त होते हैं, जिनका फल परमशान्ति है। तृष्णा से व्याकुल हुआ पुरुष किसकी शरण में जाय कि तृष्णा की व्याकुलता दूर हो? सीधा उत्तर है- जो तृष्णारहित हो, जो केवल ज्ञानमूर्ति हो, आनन्द को जो निरन्तर भोग सकता हो, ऐसे पुरुष के समीप बैठे तो वे सब व्याधियाँ दूर हो जाती हैं। तो जिन्हें प्रसन्नता चाहिए, आत्मकल्याण चाहिए उनका कर्तव्य है कि वे शुद्ध पुरुषों की सेवा में रहें अर्थात् रत्यत्रयसम्पन्न गुरुजनों की संगति में अपना समय बितायें।

श्लोक- 770

तप:श्रुतधृतिध्यानविवेकयमसंयमै:।
ये वृद्धास्तेऽत्र शस्यन्ते न पुन: पलिताङ्कुरै:।।

आत्मगुणों की वृद्धता में पारमार्थिकी वृद्धता- चिरकाल से अनेक व्यसनों और पापों में बसने वाले इन पुरुषों को आत्मोन्नति करने का प्रथम व सुलभ सहज उपाय है सत्संग। किसी भी कुपथ में लगे हुए मनुष्य को सर्वप्रथम आलम्बन सत्संग मिलता है। जिस किसी भी मनुष्य का उद्धार होता है तो उसके उद्धार का सिलसिला सत्संग से शुरू होता है। उस सत्संग की बात कह रहे हैं जो अपने इस लोक का सुख चाहते हो और परलोक का सुख चाहते हो, उनका कर्तव्य है कि वे गुरु का सत्संग करें। तो वे गुरु कैसे होते हैं उनका नाम है वृद्ध। वृद्ध का अर्थ है बड़ा। जो बढ़ा हुआ हो उसे वृद्ध कहते हैं। लोक में तो बूढ़े का नाम वृद्ध है, पर वृद्ध का अर्थ तो बढ़ा हुआ होता है। जो अवस्था में बढ़ा है उसको भी वृद्ध कहते हैं। वृद्धों का सत्संग होना अनेक अवगुणों को दूर करता है। पर यहाँ वृद्ध का मतलब सफेद बाल वालों से नहीं है अर्थात् बूढ़ों से नहीं है किन्तु जो तपस्या में बढ़े हों, ज्ञान में बढ़े हों, जितना धैर्य विशाल हो, ध्यान, विवेक, यम, संयम ये सभी जिनके बढ़े हुए हों उन्हें वृद्ध कहते हैं और वृद्ध मनुष्यों का सत्संग होना बहुत से गुणों को प्रकट करता है।

जो तप से पतित हैं तपश्चरण जिन्हें सुहाता ही नहीं है, अन्य-अन्य खोटे व्यसनों में जो लगते हैं ऐसे व्यसनी पुरुषों का संग विपत्तियों का कारण है। और, जो व्यसनी नहीं हैं तथा व्रत, तप में लगे हुए हैं ऐसे पुरुषों का संग हो तो शान्ति इस कारण मिलती है कि ऐसे सत्संग में रहने वाले पुरुष के तृष्णायें कम हो जाती हैं। उनका दर्शन करके चित्त में यह ख्याल होता है कि ये जगत के

वैभव जो विनश्वर हैं और अनेक भवों में प्राप्त किये हैं, जिनसे आत्मा का हित होना तो दूर रहो, पर तृष्णा, मूर्छा, ममता बढ़-बढ़कर इस परिग्रह के ही कारण संसार में रुलना पड़ता है। ऐसा विवेक जगता है तपस्वी पुरुषों के संग में रहकर तो जो शुद्ध तपश्चरण में बढ़े हों उन्हें वृद्ध कहते हैं, ऐसे वृद्धों की सेवा करना प्रशंसनीय है।

मनुष्य के आचरण से संगति का परिचय- मनुष्य के आचरण से सोहबत की पहिचान हो जाती है और सोहबत से मनुष्य के आचरण की पहिचान हो जाती है। सत्संग जीव के उद्धार का एक बहुत बड़ा आलम्बन है। विषयकषायों के भोगने में ही तो जीव को कुछ लाभ नहीं है ना। ऐसे संग से क्या लाभ जिसमें क्रोध, मान आदिक कषायों का पोषण हो। ऐसा जीवन तो बेकार है। समझिये वृक्ष तो फल प्राप्त करके झुक जाता है, नम्र हो जाता है और मनुष्य पुण्यफल पाकर, सम्पदा पाकर और ऊँची नजर करता है तो क्या कहा जाय उस मनुष्य को? वह तो वृक्ष से भी पतित है। भला जो अभिमान के वश है, मायाचार के वश है, तृष्णा के वश है ऐसे पुरुष का जीवन क्या जीवन है? जीवन तो वही सही है, जो भविष्य में भी सुख शान्ति का कारण बने।

सुख के प्रकार- सुख दो प्रकार के होते हैं- एक वैषयिक सुख और एक आत्मीय सुख। जो वैषयिक सुखों को ही सुख मानते हैं- विषयसेवन किया, स्वादिष्ट भोजन किया, बाह्य पदार्थों का संचय कर लिया, किसी सुन्दर रूप को निहारते रहे, राग रागिनी से प्रेम बढ़ाने वाले, कामव्यथा बढ़ाने वाले शब्दों को सुनते रहे ऐसे विषयों में जो सुख मानता रहे वह तो उसका भ्रम का सुख है। वे सुखाभास हैं, फिर भी सदा रहते नहीं और ऐसे सुख भोगने से आत्मीय बल हीन होता है तो अन्त में पछतावा ही हाथ रहता है। वैषयिक सुखों में मग्न रहने का फल भला नहीं है। और, वैषयिक सुखों से हटकर जो आत्मीय सुख में लगता है वह तो ज्ञानप्रकाश में है, जो वैषयिक सुखों में ही भूल रहा है वह भ्रम में है। जो लोग इन वैषयिक सुखों में लगते हैं उनका ही तो यह संसार है। ऐसी श्रद्धा होना चाहिए कि मेरे आत्मा का जो सहज सुख है वही मेरा वास्तविक सुख है, उस ही सुख का भोगना हमारा कर्तव्य है। ऐसी समझ यदि बने तो समझिये कि हम सही ज्ञान के मार्ग पर हैं।

विषयसुखों की क्लेशरूपता- भैया ! विषय सुख भोगने के बाद फिर तुरन्त तो अरुचि हो ही जाती है, और बाद में वह पछतावा भी करता है। भोजन की स्वाद लेने में अभी तक अपना जीवन बिताया, पर तत्त्व की बात उसमें क्या मिली सो बताओ? इसी प्रकार सभी विषय सुखों की बात है। और उन विषय सुखों का भी क्या करें? आज पञ्चेन्द्रिय हैं तो उन पाँचों इन्द्रियों के विषय भोग रहे हैं, मरण करके यदि चार इन्द्रिय जीव बन गए तो आँख तक का ही विषय रह गया। तीन इन्द्रिय

बन गए तो घ्राणइन्द्रिय तक का ही विषय रह गया। और, इन विषय सुखों का कुछ विश्वास भी है क्या? तो इन वैषयिक सुखों में सार नहीं है। इन सुखों के बीच परस्पर में दौड़ मचाना, विवाद करना, दु:खी होना, एक दूसरे को सताना यह कहाँ तक न्याय की बात है? उदारता का आदर करें। किसी का यदि कुछ अधिक प्राप्त होता हो या हमारा कुछ जाता हो तो जितना हम सहन कर सकते हैं सहन कर लें और दूसरों को यदि हमारे थोड़े से त्याग से सुख मिलता है तो उसमें भी हम अपना आनन्द मानें।

विनश्वर विषयसुखों से पराङ्मुख होने में लाभ- ये जगत के विषयसुख न साथ आये न साथ जायेंगे। बड़े-बड़े महाराजा चक्री हुए हैं वे भी इसे छोड़कर गए। और आँखों सब देखते ही हैं, सभी लोग इस वैभव को छोड़कर चले जाते हैं। हम आप सबका भी ऐसा ही हाल है। ये सब कुछ तो प्रकट न्यारे है, वैसे ही सब छूटे हैं, और वियोग तो होगा ही। यह नियम है कि जिस पदार्थ का संयोग हुआ है उसका वियोग नियम से होगा। अब हम चाहे ज्ञान विवेक बनाकर उसे अपने आप छोड़ दें, अन्यथा छूटना तो सब ही है। चाहे त्याग दें या पाप उदय में आने से यह सम्पदा हमारे जीवन में ही छूट जाय, अथवा मरण हो जाने पर यों ही छूट गया, इन तीन प्रकारों में से किसी भी प्रकार छूटे, पर सम्पदा छूटेगी सबकी। मरकर छूटे तो उस छूटने से लाभ क्या और हमारे जीते जी किसी के लूटने से या किसी प्रकार छूट जाय तो उस छूटने से लाभ क्या? देखिये जब तृष्णा अधिक बढ़ती है, तो कुबुद्धि भी बढ़ती है, और कुबुद्धि के कारण ऐसा वातावरण बन जाता है कि हाथ आयी हुई चीज भी नष्ट हो जाती है। यों तो छूटने से कुछ लाभ नहीं। कुछ विवेक बनायें और अपने जीवन में अपने ही हाथों से, अपनी ही भावना से परपदार्थों का त्याग करते रहें तो पुण्यबुद्धि होती है, धर्म प्राप्त होता है और इस जीव को भविष्य में भी सुख समागम प्राप्त होता है।

सांसारिक सुखों में स्वतन्त्रता का अभाव- संसार के जितने भी सुख समागम है अथवा जितने सुखसाधन मिलते हैं उन सबका भाग्य के साथ अनुविधान है, और यह जीव कुबुद्धि से हटकर अपने स्वभाव में आकर समस्त कर्मों का नाश कर दे और मोक्ष प्राप्त कर ले उसमें पुरुषार्थ की प्रधानता है। तो जो बात कर्माधीन है अन्य-अन्य कारणों से उत्पन्न होती है ऐसी सम्पदा के लिए हम क्यों चिन्तातुर रहें, पुरुषार्थ करके जो लाभ होता हो उसमें सन्तुष्ट होने का प्रयत्न करें। और, उसमें भी कुछ त्याग करके दूसरों को दे करके यदि किसी को हम सुखी कर सकते हैं, किसी को दु:खी कर सकते हैं तो उसका भी अपने मन में संकल्प रखें, ऐसी उदारता होने पर यह जीव इस लोक में भी सन्तुष्ट रह सकता है। तो ये सब बुद्धियाँ हमारे प्रकट हों, उसके लिए हमें गुरुसेवा चाहिए। सत्संग से ये सब विवेक जगते हैं। बुद्धि भ्रष्ट न हो पाये, यह सबसे बड़ी विभूति है। कल्पना करो कि

कितना भी वैभव हो और बुद्धि चलित हो जाय, दिमाग वश में न रहे तो वह समागम किस काम का? उस विचलित आत्मा को तो शान्ति है नहीं। तो सबसे बड़ी विभूति बुद्धि का स्वस्थ रहना है। स्वस्थ बुद्धि वह कहलाती है कि जहाँ यह ज्ञान बना रहे कि यह बात हित की है और यह बात अहित की है। ऐसा भान जिस बुद्धि में बन रहा है उसे स्वस्थ बुद्धि कहते हैं। यह स्वस्थता गुरुसेवा से प्राप्त होती है। सत्संग से यह शान्ति सम्पदा प्राप्त होती है।

वृद्धसेवा से हेयहान की और उपादेयोपादान की सुगमता- जो तपस्या में बढ़े हुए हों वे वृद्ध कहलाते हैं। उन वृद्धों की सेवा प्रशंसनीय है। जो ज्ञान में बढ़े हैं उनका नाम वृद्ध है, केवल अवस्था में बढ़ जायें और बाल भी सफेद हो जायें ऐसे वृद्धों को वृद्ध नहीं कहते, किन्तु जो गुणों में बढ़े हों, उन्हें वृद्ध कहते हैं। ज्ञान वही बढ़ा हुआ कहलाता जो ज्ञान अपने आपकी समझ बनाये कि यह मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, दुनिया के समस्त पदार्थों से न्यारा हूँ, मेरा अन्य पदार्थों से कुछ सम्बन्ध नहीं है। मैं केवल ज्ञान का धनी हूँ और बिगड़ जाऊँ तो कल्पनाओं का धनी हूँ। इसके सिवाय मैं अन्य कुछ नहीं करता ऐसा जिनके विवेक जगा है वे वृद्ध मनुष्य है, उनकी सेवा करने से बुद्धि स्वस्थ रहती है। जो धैर्य के अधिकारी हैं उनकी सेवा से बड़ी शिक्षा मिलती है। एक मनुष्य चाहे वह गृहस्थी में हो, यदि वह धीर है, सोचकर बोलने वाला है, बड़ी बात का आदर करता है, तुच्छ विचार नहीं रखता ऐसे धीर गम्भीर मनुष्य के पास आप बैठें तो आप पर भी कुछ असर होगा, अधीरता दूर होगी, धीरता का गुण आने लगेगा। तो जो मनुष्य धीर हैं वे वृद्ध है, गुरु हैं, उनकी सेवा से हममें भी गुण प्राप्त होने लगते हैं। जो मनुष्य आत्मा के ध्यान का उद्यम करते हैं, जिन्हें संसार, शरीर, भोग नहीं रुचते हैं ऐसे आत्मकल्याणार्थी संत मनुष्य कहीं मिलें तो सही, उनके सत्संग में बैठे तो अनुभव करेंगे कि बुद्धि कितना स्वस्थ होती है? हम शुद्ध सत्संग से निज मार्ग के अनुरागी बन जायेंगे। तो जो आत्मध्यानी मनुष्य हैं वे संत हैं, गुरु हैं, उनकी सेवा से हमारी बुद्धि स्वस्थ रहेगी।

सत्सङ्गमें आत्मा की भलाई- जो मनुष्य विवेकी हैं, हित अहित का विवेक रखते हैं, अपने द्वारा किसी को कष्ट न हो ऐसा जिनके विवेक रहता है ऐसे मनुष्यों का संग अनेक गुणों को उत्पन्न करता है। जो व्रत संन्यास से रहते हैं, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पापों का जिन्होंने त्याग किया है, जो किसी भी जीव की हिंसा स्वप्न में भी नहीं चाहते हैं, अपने इन्द्रिय के विषयों की ओर आसक्त नहीं रहते हैं, इन्द्रिय की आज्ञा के दास नहीं रहते हैं ऐसे पुरुषों का संग अर्थात् सत्संग एक श्रेष्ठ संग है। सत्संग से अनेक गुणों की प्राप्ति होती है। यदि हमें अपनी भलाई करना है तो सत्संग में अधिक रहें। नगर में रहकर भी, गृहस्थी के बीच रहकर भी गृहस्थी में जो सत्पुरुष हों, जो अपने विचार ऊँचे रखते हों, जो दूसरों की भलाई की ही बात सोचते हैं ऐसे गृहस्थ तो आपके

गाँव में भी मिलेंगे। ढूँढ़ने लगो। प्रत्येक गाँव के लोग यह अनुभव करते हैं कि हमारे यहाँ सत्संग नहीं है, पर सत्संग मिलेगा प्रत्येक गाँव में। चार पाँच प्रतिशत लोग ऐसे मिल जायेंगे जिनके भाव बड़े सुलझे हुए हैं, वे माया को ही अपना सब कुछ नहीं मानते हैं किन्तु शुद्ध विचार, शुद्ध आचरण, आत्मा की उन्नति को ही अपना सर्वस्व मानते हैं ऐसे पुरुष प्रत्येक गाँव में मिलेंगे। उनका संग बनायें, उनकी आज्ञा में रहें। किसी भी समय में कोई विचार करना हो अथवा किसी विवाद में उलझ गए हों उनका सहारा लें, अपने को कुछ हानि हो जाय तो बाह्य पदार्थों के प्रति, धन आदिक के प्रति विह्वल न हों, किन्तु तत्त्वज्ञान का सहारा लें और तब शान्ति उत्पन्न होती हो तो उसे सब कुछ मानें। ऐसा यदि भाव बन जाय प्रत्येक गृहस्थों में, तो देखिये कितना प्रेम का साम्राज्य छा जाता है।

लौकिक सम्पदा के सङ्गकी अहितकारिता- भैया ! यह सम्पदा तो पुण्य की दासी है। जैसे छाया मनुष्य के पीछे-पीछे फिरती है। कोई मनुष्य छाया को पकड़ने के लिए बंढे तो छाया दूर भागती है, पकड़ने में नहीं आती। और, मनुष्य अपनी छाया से मुख मोड़ ले और आगे बंढे तो छाया उसके साथ-साथ चलती है, ऐसा ही इस सम्पदा का हाल है। जो मनुष्य तीव्र अभिमानी हैं, सम्पदा की ही माला जपते रहते हैं ऐसे मनुष्य के सम्पदा दूर भागती है और जो सम्पदा से मुख मोड़ लेते हैं, उसकी उपेक्षा कर देते हैं, अपने विचार आचरण से ही प्रेम रखते हैं ऐसे मनुष्यों के पुण्यफल बढ़ता है। अपना लक्ष्य होना चाहिए शान्ति का। जिसका शान्ति का लक्ष्य होगा उसे सब ज्ञान आयेगा और जिसे केवल सांसारिक सुखों का लक्ष्य ही होगा उसके शुद्ध ज्ञान नहीं जग सकता। आत्मा की स्वच्छता तो शुद्ध ज्ञान से होती है, सम्पदा के संचय से नहीं होती। तो ये सब बातें प्राप्त करने को हम वृद्धों की सेवा करें, गुरुजनों की सेवा करें, सत्संग से अधिकाधिक लाभ लें।

श्लोक- 771

प्रत्यासत्तिं समायातैर्विषयैः स्वान्तरञ्जकैः।
न धैर्यं स्खलितं येषां ते वृद्धा विबुधैर्मताः।।

वृद्ध पुरुषों की विशेषता- वृद्ध पुरुष वे हैं जो मन को रंजायमान करने वाले अनेक समागम भी निकट आ जायें तो भी उनके कारण जिनका धैर्य स्खलित न हो। धीरता बराबर बनी रहे। अब

भी और कुछ पहले समय में ऐसे बुजुर्ग लोग होते थे और अब भी क्वचित् पाये जाते हैं कि जिनमें रागद्वेष मोह की मात्रा बढ़ी हुई नहीं है, अपने बच्चे का पक्ष लेना पसंद नहीं करते, जिन्हें न्यायप्रिय है, सब पर जिनकी समान दृष्टि रहती है, यह मेरा है, यह दूसरे का है, यह भाई है, यह मेरा लड़का है इस तरह की पक्षपात की दृष्टि जिनके नहीं है, किन्तु उन सबको समान दृष्टि से निरखते हैं ऐसे बुजुर्ग अब भी क्वचित् पाये जाते हैं। देखो भैया ! जो प्राचीन रीति-रिवाज हैं माता पिता के सामने बच्चों को कैसे रहना चाहिए, युवक हो जाने पर भी बालक माता पिता की अनुनय विनय रखे रहे और घर में बहुवें सास ससुर आदि की अनुनय विनय रखे रहे, ये सब रीति रिवाज, ये सब बातें एक शान्ति का वातावरण रखने में सहायक हैं। जब से ये अनुनय विनय की बातें छूटी तब से विवाद होना बहुत बढ़ गया है, हम जगत के वैभव को सुख का कारण न समझें, किन्तु मेरा ज्ञान सही रहे, मैं अपने को पहिचान लूँ, पापों से दूर रहूँ, दरिद्रता को तो पसंद कर लें किन्तु अन्याय न पसंद करें ऐसे आशय से हमें सुख प्राप्त होगा। इन सब कल्याण की बातों को पाने के लिए जीवन में इतना तो अभ्यास कर ही लें कि हमारा सबके लिए वचनव्यवहार प्रिय बने। सबसे मुख्य बात है, क्योंकि मनुष्य का धन एक वचन ही है। वचनों से हम एकदम ज्ञात कर सकते हैं कि यह मनुष्य कैसा है?

हितमित प्रिय वचनव्यवहार से समृद्धिलाभ की पात्रता- हमारे वचन हित, मित, प्रिय हों, ऐसी वाणी बोलने का अभ्यास बनायें। अपनी भाषा में कुछ सुधार भी बनायें जिन वचनों को सुनकर दूसरे सुखी हो जायें वे वचन खुद को भी लाभ देंगे और दूसरों को भी लाभ देंगे। अभी गाँव में या किसी भी जगह जितने भी झगड़े उठते हैं निर्णय यदि करें तो उन झगड़ों में मूल में यही बात पायेंगे कि उसने यों कह दिया तो उस पर बढ़ते-बढ़ते झगड़ा हो गया। यदि मर्मछेदी वचन हों तो दूसरे के चित्त को ऐसी पीड़ा देते हैं कि जैसी पीड़ा कोई किसी शस्त्र से भी नहीं दे सकता। लोक साहित्यिक ढंग से मुख को कमल कहा करते हैं। आपके मुखारबिन्द से कुछ शब्द निकलें तो ऐसे निकलें कि सुनने वालों को प्रिय लगें। तो मुखारबिन्द मायने मुखरूपी कमल है। जैसे फूले हुए कमल से मानो प्रसन्नता टपकती है ऐसे ही मुख से ऐसे वचन निकलने चाहिए जिसको सुनकर दूसरे को प्रसन्नता प्रकट हो। ऐसे ही वचन मिलने वाले मुख को कमल की तरह बताया है।

अहित अप्रिय वचन व्यवहार से सर्वत्र अहित- यदि किसी के मुख से ऐसे वचन निकलें जो दूसरे के हृदय को पीड़ा देने वाले हों तो क्या ऐसे मुख को कोई कमल की तरह कहेगा? मुख को धनुष कह लो। जैसे जिस धनुष से बाण छूट गया तो जिसका लक्ष्य करके छूटा है वह उसके हृदय को छेद भेद देगा। बाण छूट जाने पर कोई कितनी ही मिन्नत करे कि ऐ बाण, तू भूल से छूट गया,

वापिस आ जा, तो क्या वह छूटा हुआ बाण वापिस हो सकता है? नहीं हो सकता। वह तो जिसका लक्ष्य करके मारा गया है उसे छेद देगा, ऐसे ही जिसके मुख से दुर्वचन निकल गए तो वे तो उसके हृदय को छेद भेद देंगे जिसका लक्ष्य करके वचन बोले गये हैं, वचन मुख से निकल जाने पर कोई कितनी ही मिन्नत करे कि ऐ वचन, तुम वापिस आ जावो, तुम भूल से मुख से निकल गए हो, तो क्या वे वचन वापिस हो सकते हैं? नहीं हो सकते। इस मुख का भी आकार धनुषाकार होता है। जैसे धनुष दोनों ओर से टेढ़ा होता है ऐसे ही क्रोधदशा में मुख का भी आकार बन जाता है। तो इस बात से हम अपने लिए यह शिक्षा लें कि मुख से कभी भी खोटे वचन न निकालें, दुर्वचन न बोलें, सत्संग में अधिकाधिक रहें, इन दोनों बातों से हमारे जीवन के उद्धार का काम बन सकता है।

श्लोक- 772

न हि स्वप्नेऽपि संजाता येषां सद्वृत्तवाच्यता।
यौवनेऽपि मता वृद्धास्ते धन्या: शीलशालिभि:।।

शीलशाली वृद्ध जनों का हितोपदेश- जिनके सदाचरण स्वप्न में भी कभी मलिन नहीं होते ऐसे मनुष्य यौवन अवस्था में भी वृद्ध कहलाते हैं। ऐसे शीलवान महापुरुषों ने बताया है, मनुष्य जन्म में एक सदाचार की बड़ी विशेषता है। यदि सदाचार ही न हो तो फिर मनुष्य में और पशुवों में कुछ भी अन्तर नहीं है। सदाचार अपनी-अपनी परिस्थिति के अनुसार मनुष्यों में भिन्न-भिन्न श्रेणीरूप है, जैसे उन मनुष्यों का सदाचार जिनके कुलपरम्परा से शिकार खेलना, मांसभक्षण मदिरापान करना और सभी ऐब यों कहो कि जिनका जीवन पशुवत् परम्परा से चला आ रहा है ऐसे मनुष्यों का सदाचार कम से कम इन 8 बातों में है कि वे मांस, मदिरा, शहद तथा बड़, पीपल, ऊमर, कठूमर, अंजीर आदिक फलों का त्याग करें, जिनमें साक्षात् चलते-फिरते त्रस जीव रहते हैं। यह बहुत प्रारम्भिक सदाचार है और इसका उपदेश उनको दिया जाता है जो परम्परा से सर्वप्रथम से भ्रष्ट आचार में रहे हैं। ये अष्ट मूल गुण के नाम से प्रसिद्ध हैं और उन नीच आचार विचार वालों के लिए यह सदाचार बताया है और जो मनुष्य कुछ थोड़ा बहुत परिपाटी से विवेक में चल रहे हैं लेकिन अत्यन्त थोड़ा विवेक है ऐसे मनुष्यों के सदाचरण इन बातों में प्रारम्भ होता है। उतना तो आचरण हो ही जितना कि कम से कम और अधम मनुष्यों के लिए बताया गया है उन्हें तो 7 व्यसनों का त्याग होना यह उनका सदाचरण है।

द्यूतक्रीडा के त्याग का कर्तव्य- जुवा खेलना, यद्यपि लोग दिल बहलावा से इसे शुरू करते हैं, लेकिन इनके व्यसन बढ़ते-बढ़ते यहाँ तक बढ़ते जाते हैं कि अपनी सम्पदा तक को भी दाव पर लगा देते हैं, पर जिनके जुवे का व्यसन हो गया वे जीते भी हारे हैं और हारे तो हारे ही हैं। जुवा खेलने के व्यसन में जिनकी कुछ धुन बनी है ऐसे पुरुषों को बड़ा मानना पड़ता है कि अनेक विपदायें आने पर भी वे जुवा का परित्याग कर सकें और कदाचित् तृष्णावश ही सही किसी के मन में आ जाय कि अब इसे छोड़ दें, जो कुछ थोड़ा सा पल्ले रह गया है, उसकी ही रक्षा कर लें तो अन्य जुवारी लोग उसे ऐसी अपमान भरी बात कहने लगते हैं कि उसे जुवे से हटना कठिन हो जाता है। तो सदाचार की बात में एक यह भी सदाचार है कि जुवा खेलने का परित्याग करें। इससे बरबादी ही है और मन की अत्यन्त अस्थिरता है, चित्त कहीं भी लगता नहीं है, पैसा लगाकर जुवा खेलने की बात तो अधम ही है, किन्तु केवल तास के पत्तों को ही बिना पैसों का दाव लगाये जो खेल खेलने में लग जाता है वह भी समय पर भोजन नहीं करता, ऐसे मित्रों की खोज करता है जो तास खेलने में साथ देंगे, और-और प्रकार से वह अपने समय को बरबाद कर देता है। आवश्यक कामों से भी मुख मोड़ लेता है।

मांस मदिरा के त्याग का कर्तव्य- दूसरा सदाचार है मांस भक्षण का परित्याग करना। मांस भक्षण में भी सभी ऐब आ जाते हैं। हिंसा में तो दोष लगा ही हैं। मांस किसी जीव के घात के बिना उत्पन्न नहीं होता। तो जो मांसभक्षण करते हैं उन्हें जीव घात का पाप तो लगा ही है, साथ ही मांस में चाहे वह कच्चा हो, चाहे पक गया हो, जल्दी का हो या पुराना हो उसमें सतत् असंख्याते जीव उत्पन्न होते रहते हैं, जो इतने सूक्ष्म हैं कि आँखों दिख नहीं सकते। उसमें हिंसा का भी बहुत बड़ा पाप बसा हुआ है। और, फिर मांसभक्षण में बुद्धि भी धर्म में लगाने लायक नहीं रहती। तीसरा सदाचार है मदिरा त्याग करना शराब, गांजा, चरस, भंग इत्यादि विशेष बेहोश करने वाले पदार्थ हैं ही। और, भी जो यद्यपि कम मादक हैं लेकिन जिनकी आदत बनने पर शरीर का स्वास्थ्य भी बिगड़ता है और व्यर्थ का उपयोग भटकता है, जैसे तम्बाकू खाना पीना, पान, बीड़ी, सिगरेट आदि खाना पीना ये सब व्यसन हैं। इनका परित्याग होना यह भी साधारण गृहस्थ जनों का सदाचार है।

चोरी के परित्याग का कर्तव्य- चौथा सदाचार है चोरी का व्यसन न होना। अपने आपमें कितना स्पष्ट और न्यायप्रिय रहता है सदाचारी कि वह परधन को चाहे गिरा हो, पड़ा हो, भूला हो उसके हरण करने की भावना मन में नहीं रखता। यह संसार ही सारा असार है। ये सारे समागम इस जीव का अहित करने वाले है। किसी भी समागम से जीव का हित सम्भव नहीं है, स्पष्ट दिखता है लेकिन प्रथम तो कोई किसी का होता नहीं। कल्पना में मान लिया कि यह मेरा पदार्थ है।

लोकव्यवस्था भी कुछ-कुछ ऐसी है, लेकिन विवेकपूर्ण विचार से देखो तो जगत में अनन्त जीव हैं, उनमें से कोई जीव तुम्हारे घर में उत्पन्न हो गए। यदि वे जीव तुम्हारे घर में न आये होते, कोई अन्य जीव तुम्हारे घर में पैदा हो गए होते तो उन्हें अपना मान लेते कि नहीं? तो जिस चाहे को कल्पना से मान लेते कि यह मेरा है। फिर दूसरी बात यह है कि अन्याय करके, झूठ बोलकर, व्यग्र बनकर, चिन्तावों में घुलकर धन का संचय किया और अन्त में मरण हो गया, वह यहाँ का यहाँ ही पड़ा रहा, खुद के लिए तो कुछ मददगार नहीं हुआ। रही दूसरों की बात तो दूसरे तो सब भिन्न हैं। जिन्हें आप अपना परिजन मानते, जिनके पीछे आप चिन्ताएँ रखते वे सब भी अपना-अपना भाग्य लेकर आये हैं। अपनी-अपनी भाग्य के अनुसार, योग्यता के अनुसार, अपनी बुद्धिबल से उन्हें भी सब कुछ प्राप्त होता रहता है, उनके पीछे चिन्ताएँ रखने से, व्यग्र रहने से इस अमूल्य नरजीवन को खो डालना यह तो विवेक नहीं है, सन्तोषवृत्ति से रहकर प्रभुभक्ति और आत्मध्यान इनमें प्रगति करना सो तो विवेक है, इसके विपरीत चिन्तावों में मग्न रहना, अपने को परेशान बनाये रहना, दुःखी अनुभव करना यह विवेक नहीं है। परधन को जो चाहते हैं कि किसी भी प्रकार से मेरे पास आ जाय तो उसमें भी दयाहीनता का दोष लगा। सब वैभव मेरे पास आ जायें इसमें यह बात पड़ी हुई है कि और लोग चाहे कैसे भी रहें पर मेरे पास खूब धन आ जाय, तो इसमें दयाहीनता का दोष लगा। कर्तव्य तो अपना यह है कि गृहस्थी के नाते औसतन पुरुषार्थ करें और उसमें जो न्यायनीति से कमाई हो उसमें अपने कुटुम्बियों का पालन-पोषण करें। जिन जीवों के चोरी का व्यसन लग गया है उनके चित्त में धर्म की पात्रता कहाँ से होगी? तो गृहस्थजनों का सदाचार है कि चोरी का परित्याग करें।

आखेट, परस्त्रीगमन व वेश्यागमन के परित्याग का कर्तव्य- एक शिकार खेलने का भी व्यसन होता है, उसका त्याग करना भी सदाचार है। निरपराध पशु-पक्षियों के प्राण लेना इसमें बहुत बड़ा अपराध है। किसी जीव को मारकर उसमें अपनी बहादुरी समझना इसमें कितना उस मारने वाले का उपयोग भटक गया। शिकार खेलने का परित्याग यह सदाचार है। यह दूसरी स्थिति का सदाचार कह रहे हैं। पहिले तो निम्न श्रेणी वाला सदाचार बताया था, उसके बाद द्वितीय श्रेणी के अविरत मनुष्यों का सदाचार कह रहे हैं उनका सदाचार है परस्त्रीगमन का त्याग करना अथवा स्त्रीजनों की ओर से परपुरुष का त्याग करना। परस्त्रीसेवन में चिन्ता, व्यग्रता, निर्दयता, कायरता ये सभी ऐब आ जाते हैं। प्रथम तो परस्त्री है। कुछ कामी मनुष्य के अधीन तो है नहीं। सो हर समय मिलना तो असम्भव है, कभी गुप्त रूप से चोरी से अनेक यत्न करके मिलन होता है सो शेष समय मिलने का निरन्तर चित्त बना रहता है और हृदय में कामव्यथा निरन्तर बनी रहा करती है और ऐसी स्थिति में वह धर्मध्यान क्या कर सकता है, और फिर लौकिक आपत्तियाँ कितनी हैं, बुद्धि सब भ्रष्ट हो जाती

है, चिन्ता है और खोटी बात के लिए व्यग्रता है। वहाँ बुद्धि सही काम कैसे कर सकती है? तो परस्त्रीगमन का त्याग करना यह है, गृहस्थजनों का सदाचार। और, सप्तम व्यसन बताया है वेश्यासेवन। यद्यपि निर्लज्ज होकर लाज छोड़कर जो मनुष्य वेश्यागमन का पाप अपने में लादते हैं उनको परस्त्री की तरह यह तो भय नहीं कि कोई जान जायेगा तो हमारी जान ले लेगा, लेकिन जो मायाचार करके सभी मनुष्यों के साथ दुराचार कर सकती है ऐसी वेश्या के प्रति जो भाव रहता है, आकर्षण रहता है उसमें वह कितना पतित हो जाता है? धर्म का वह पात्र कहाँ है?

तृतीय प्रकार से श्रावकों के आठ मूलगुण- 7 व्यसनों का परित्याग करना यह द्वितीय श्रेणी का मौलिक सदाचार है, इसके पश्चात् जो कुल परम्परा में जो उज्ज्वल आचरण वाले चले आये हैं, जिनमें धर्म की परम्परा भी चली आयी है उनके सदाचार में कुछ बातें बढ़ती जाती हैं। इतनी बातें तो होती ही हैं, पर साथ ही धार्मिक कार्यों की प्रवृत्ति भी बढ़ जाती है। जैसे प्रभुभक्ति में अपना चित्त लगाना, देवदर्शन करना, जीवदया में कुछ आगे प्रगति करना, रात्रिभोजन का त्याग करना, जल छान कर पीना, ये प्रवृत्तियाँ उनके लिए सुगम ही बढ़ जाया करती हैं। रात्रिभोजन में हिंसा का दोष है। अब धर्मरुचि घट जाने से लोग रात्रिभोजन करने लगे हैं, पर कोई समय था ऐसा जिसमें रात्रिभोजन करने वालों को निश्चरों जैसा मानते थे। साथ ही यह भी देखिये कि भोजन की आसक्ति दिन में भी रहे, रात्रि में भी रहे तो फिर चित्त को विराम कब मिले? और फिर धर्मकार्यों के लिए भी उनका समय नहीं निकल पाता। जिन लोगों के यहाँ रात्रिभोजन करने का रिवाज नहीं है, सूर्यास्त से पहिले ही भोजन कर लेते हैं उनके पास धर्म करने, धर्मोपदेश सुनने, चर्चा, व्याख्यान सुनने आदि का समय खूब मिल जाता है और जो लोग रात्रि भोजन करते हैं, उन्हें कहाँ इन बातों के लिए समय मिल पाता है? तो अनेक जीवदया सम्बन्धी बातें इन तृतीय श्रेणी वाले गृहस्थों में और हो जाया करती हैं।

अणुव्रतों के उत्तरोत्तर विशेषतया पालन का कर्तव्य- कुछ विशेष वैराग्य जगने पर श्रावकों के कर्तव्य में पंच अणुव्रतों का पालन आ जाता है, अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्यअणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रह परिमाणअणुव्रत आदि ये सदाचार और बढ़ जाते हैं। इससे ऊपर जो गृहस्थजन धर्ममार्ग में चलते हैं फिर उनका प्रतिमारूप आचरण चलने लगता है जिसे श्रावक के 11 दर्जे कहते हैं। उन सब दर्जों में उत्तरोत्तर त्याग की विशेषता है। जितना परपदार्थों से उपेक्षा बढ़ती जायगी उतना ही आचरण अहिंसक बनता जायेगा। यों श्रावकों में उच्च दर्जों तक क्षुल्लक अथवा ऐलक पद के आचरण रहते हैं। जहाँ केवल एक दो कपड़ों के अतिरिक्त अन्य कुछ भी परिग्रह की आवश्यकता नहीं रहती, और भोजन भी एक बार नियमित करके सन्तुष्ट रहते है तो यह उपेक्षा की

ही तो बात है और अपना शेष समय स्वाध्याय में, चर्चा में, पठन में, लेखन में, ध्यान में बिताया करते हैं। यहाँ तक बात कही है निम्नश्रेणी के पुरुषों से लेकर उच्च श्रावकों तक के सदाचार की।

नैर्ग्रन्थ्य परम आचार- श्रावकों के आचरण से ऊपर जो और उत्कृष्ट सदाचार चलता है वह है संत पुरुषों का। जो समस्त प्रकार के परिग्रहों का पूर्ण त्याग कर देते हैं यहाँ तक की ऐसी करुणा की मुद्रा बन जाती है कि वस्त्र आदिक से भी जिनका प्रयोजन नहीं रहता। नग्न दिगम्बर साधु संतों का आचरण एक सर्वोत्कृष्ट आचरण है। कुछ लोग ऐसा सोच सकते हैं कि यह कैसी वृत्ति है कि नग्न हो गए लेकिन सोचिये तो सही उसकी दृष्टि से, जिसको आत्मतत्त्व का इतना उच्च परिज्ञान हो गया है कि जिसको अब परवस्तुविषयक विकल्प ही नहीं है, कामवेदना जैसी बात ही नहीं चलती उन पुरुषों का नग्न दिगम्बर हो जाना यह निर्विकारता की सूचना देता है, कितना विकार विजयी हैं जिनमें रंच भी काम सम्बन्धी विचार नहीं उत्पन्न होता ऐसे ही पुरुष नग्न हो सकते हैं। यह बहुत ऊँचा तपश्चरण है, साथ ही करुणा की मुद्रा है। जब कि कोई कहे संन्यासी लाठी, चिमटा, त्रिशूल आदि लिए रहते हैं, अपना भयंकर भेष बना लेते हैं। उनसे लोगों को यह भय रहता है कि कहीं हमसे कोई अविनय सम्बन्धी बात बन जाय तो त्रिशूल, लाठी वगैरह मार न दें। और, नग्न दिगम्बर साधु के हाथ में पिछी है जो आँखों में कुछ जाय तब भी वह पीड़ा नहीं देती। एक कमण्डल पास में रखे हैं जो शौच आदि से निवृत्त होकर शुद्धिक्रिया के लिए रखते हैं। ऐसी नग्न दिगम्बर शान्त मुद्रा को देखकर किसी को भी भय नहीं उत्पन्न होता। जब उनके पास किसी भी प्रकार का परिग्रह नहीं है तो उनसे मार देने की शंका किसी को उत्पन्न ही नहीं हो सकती। यों समझ लीजिए कि जिसे पता है कि यह सर्प विषरहित है तो उससे वह भय नहीं करता। ऐसे ही जो नग्न दिगम्बर साधु कुछ भी हथियार आदिक नहीं रखता उससे किसी को भय कैसे उत्पन्न हो सकता है? वह एक सदाचार की ऊँची स्थिति है।

नैर्ग्रन्थ्य आचरण में 28 मूलगुणरूप वृत्ति- जब गृहस्थों से भी ऊपर उठकर सदाचार की बात आती है तो वह द्विज कहलाने लगता है। यों समझिये कि उसका दूसरा जन्म हो गया है जिसने परिग्रह का पूर्ण त्याग कर दिया उसका तो दूसरा जन्म है। जैसे कोई मनुष्य मर जाय और दूसरा जन्म ले ले तो अब पूर्वजन्म का न संस्कार, न वासना, न परिचय, न समता ये कुछ भी नहीं है, क्योंकि दूसरा जन्म हो गया है। पूर्वजन्म से अब उसका कुछ सम्बन्ध नहीं रहता, इस प्रकार जो गृहस्थ समस्त परिग्रहों का त्याग करके संन्यास धारण करता है उसका अब दूसरा जन्म हो गया है। पुरानी बातों का अब उसके संस्कार नहीं रहता। उसका आचरण है 28 मूल गुणरूप अर्थात् 5 इन्द्रिय और छठा मन, इन दो के विषयों में नहीं लगता। देखिये यह कितना ऊँचा आचरण है?

इसमें परदया यह है कि किसी दूसरे जीव के सुख में रंच भी बाधा नहीं डाला और स्वदया कितनी है कि विषयों में अपना उपयोग लगेगा तो स्वयं आत्मध्यान से दूर हो जायेंगे। और, वहाँ खोटे कर्मों का ही बंध होगा। तो इन विषयों से अपने को दूर रखना यह उनका सदाचार है। 5 महाव्रतों का पालन पूर्णरूप से अहिंसा है। कोई चोर, बदमाश, डाकू, शत्रु अगर हमला भी करे तो उस पर भी उसे शत्रु समझकर उससे बदला लेने का भाव मन में न आने देना, यह है उनका उत्कृष्ट सदाचार। इससे पहले गृहस्थावस्था में इतनी अहिंसा न बनती थी। कोई विरोधी लड़ने के लिए आये तो उसका मुकाबला करते थे और हिंसा भी हो जाय दूसरे की तो उसे विरोधी हिंसा मानी जाती थी, संकल्पी नहीं, लेकिन अब संन्यास धारण करने पर इतना उच्च सदाचार हो गया। सर्वप्रकार हितकारी सत्य वचन बोलते, अत्यन्त निर्जन वन में रहते, अचौर्यमहाव्रत के उच्च आदर्श हो जाते, संसार की स्त्रीमात्र के प्रति पूर्ण ब्रह्मचर्य है। परिग्रह का पूर्ण त्याग है। देखकर चलना, जमीन में पड़े हुए जीवों को बाधा न हो, बोलें तो हित मित प्रिय वचन बोलें, कुछ भी चीज धरें उठायें तो देखभालकर धरते उठाते हैं। मलमूत्र, पसीना, नाक, थूक वगैरह का क्षेपण करते हैं तो ऐसी जगह देखभालकर करते हैं कि जहाँ कोई जीवजन्तु न हो। यों उनका सदाचार रहता है और उससे भी ऊँचा आचरण साधु संतों का यह है कि ऐसा मन बनता कि जिसमें किसी परपदार्थ का उपयोग ही न जाय, और वचनों का परित्याग करना, पूर्ण मौन से रहना, शरीर हिले डुले नहीं, बैठे हैं तो ऐसे ही स्तब्ध और लेटे है तो बिल्कुल काठ की तरह ऐसा निश्चल शरीर बना, ये सब उच्च आचरण होते हैं। तो इस श्लोक में कहा यह जा रहा है कि जो मनुष्य अपनी पदवी के अनुसार अपने आचरण में जवानी की अवस्था में भी नहीं गिरता है वह मनुष्य धन्य है। बुढ़ापा आने पर इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं और उनमें भोग उपभोग नहीं बन पाते हैं, विवश होकर उन्होंने त्याग किया तो उसमें मानसिक विशेषता नहीं आयी, किन्तु जवानी अवस्था में भी जो काम के वेग से दूर रहते हैं और दुराचारों से दूर होते हैं वे पुरुष धन्य हैं और महात्माजनों ने उन पुरुषों की महिमा गायी है। वे ही वृद्ध है। ऐसे पुरुषों की सेवा करना उनकी सत्संगति में रहना ये सब लाभदायक बातें हैं। हम आप सबको सत्संग की बहुत खोज रखना चाहिए। हमारा संग व्यसनी पापीजनों का न बन जाय और हमारा भाव पतन की ओर न मुड़ जाय ऐसा सत्संग बनाने का यत्न करना यह अपना परम कर्तव्य है।

श्लोक- 773

प्राय:शरीरशैथिल्यात्स्यात्स्वस्था मतिरङ्गिनाम्।
यौवने तु कचित्कुर्याद्दृष्टतत्त्वोऽपि विक्रियाम्।।

गुरुसेवा व वृद्धसेवा की ब्रह्मचर्यसाधनता- समस्त व्रतों में प्रधान व्रत है ब्रह्मचर्य और ब्रह्मचर्य की व्याख्या उत्कृष्ट से उत्कृष्ट होती चली गयी है। परम ब्रह्मचर्य है आत्मा, आत्मा में लीन हो जाय तो ऐसा कार्य करने के लिए व्यवहार के सदाचार भी हमें अच्छी तरह निभाने पड़ेंगे, तब इतनी पात्रता जग सकती है कि हम अपने स्वरूप में लीन हो सकें। जो व्यवहार के सदाचार से भी गिरा है उसमें यह योग्यता नहीं आ सकती कि वह आत्मा की सुध पा सके और व्यवहार की सदाचारता आये इसके लिए मुख्य सहायक है सत्संग, गुरुसेवा, वृद्धसेवा। जो ज्ञान में तप में बढ़े हुए हैं, जो अपनी निर्मलता में बढ़े हुए हैं, ऐसे पुरुषों की संगति से वे सब गुण आ जाते हैं जिससे आत्मा आत्मा में लीन होने का पात्र बन सकता है। तो यहाँ वृद्ध पुरुषों का लक्षण कहा जा रहा है। वृद्ध का अर्थ है बढ़ा हुआ। अवस्था में बढ़ा हुआ हो उस ही का नाम वृद्ध नहीं। अवस्था में चाहे बड़ा हो या छोटा, जिसके ज्ञान, ध्यान, धैर्य, विवेक, व्रत, संयम बढ़े हुए हों वे वृद्ध पुरुष कहलाते हैं और उनकी सेवा से ब्रह्मचर्य व्रत की साधना होती हैं।

मोह की वैरीरूपता- जीव के बैरी है 6- मोह, काम, क्रोध, मान, माया और क्षोभ। जो जीव ऐसा समझते हैं कि हमारे अमुक पुरुष विरोधी है वह उनका बड़ा भ्रम है और बड़ा अज्ञान है और इस भ्रमों में वे अपने आपको दु:खी कर डालते हैं। और विकट कर्मों का बन्ध करते हैं, जितने जीव है सब अपने-अपने कषाय के अनुसार अपनी-अपनी चेष्टा करते हैं। जिसे हम शत्रु मानते हैं वह भी जो उसमें बात कषाय आयी है उसकी शान्ति के लिए चेष्टा करता है, हम उसे प्रतिकूल समझकर शत्रु मान लेते हैं। जगत में अनन्त जीव हैं और सभी जीवों का स्वरूप अपना-अपना जुदा है, अपनी-अपनी सत्ता से सब हैं। और, सत्ता का अर्थ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इन चार से है। हमारी सत्ता हममें है, दूसरे की सत्ता दूसरे में है, तो हमारी करतूत पर में कैसे जा सकती है, हम कल्पनाएँ भर कर रहे हैं, और संसार में रोग केवल यही है कर्तृत्व का रोग। यह मुझे करने को पड़ा है ऐसी जो चिन्ता बनी रहती है यही संसार का महान रोग है। भगवान सर्वज्ञ कृतकृत्य कहलाते हैं, अर्थात् जिसने सब कुछ कर लिया, जिसे पर में कुछ करने को नहीं रहा उसे कृतकृत्य कहते हैं। काम कर करके कृतकृत्य कोई नहीं बन सकता। काम से निवृत्त होकर कृतकृत्य बन सकते हैं। जब

कभी हम आप लोगों को कोई सुख होता है तो वह सुख काम करने से नहीं होता किन्तु अब मुझे करने को नहीं रहा, इस आशय का सुख है। जैसे आपने कोई मकान बनवाया तो बाद में जो आप सुख का अनुभव करते हैं वह मकान बनवाने का सुख नहीं है, किन्तु मकान बनवाने का काम अब नहीं रहा, इस बात का सुख है।

यदि कोई पुरुष परपदार्थ को पर जानकर पहले से ही सोच ले कि मुझे पर में करने को कुछ है ही नहीं तो वह सुखी है। ऐसा सुख उन्हें भी नहीं हो सकता जो बड़े-बड़े मकान महल बनवाने वाले है, बड़े-बड़े राजपाट चलाने वाले हैं। सुख तो विश्राम का है। मन विश्राम पाये उसका आनन्द आता है। अब मन किसी का ज्ञान द्वारा विश्राम पाता है तो जिसका ज्ञान द्वारा विश्राम पाता है उसका तो स्थिर विश्राम है, क्योंकि ज्ञान द्वारा विश्राम पाता है। जब चाहे ज्ञान का प्रयोग कर लें और अपने को सुखी बना लें। और ,जो परपदार्थों की परिणति बनाकर विश्राम चाहते हैं प्रथम तो परिणति उनकी इच्छानुकूल बनती नहीं और बन भी जाय तो भी अपेक्षा होने के कारण वह विश्राम नहीं मिल सकता जो कार्य की निवृत्ति के आशय में विश्राम मिलता है। जो पुरुष ज्ञान में वृद्ध हैं, तपश्चरण में वृद्ध हैं वे वृद्ध संत पुरुष हैं। उनकी सेवा से छहों बैरी, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह दूर होते हैं। मोह तो एक अज्ञान का नाम है। जब संत पुरुषों की सेवा में रहें तो यह अज्ञान दूर होता है, मोह दूर होता है। जहाँ मोह दूर होने लगता वहाँ कुछ आत्मा की बात सुनने को जानने को भी अपने आपको खबर होती है। मोह दूर हो।

कामविजय का महत्त्व- मोह के अतिरिक्त अन्य प्रवृत्तियों में सबसे भंयकर खोटी प्रवृत्ति है काम की। क्रोध, मान, माया, लोभ में जितना बिगाड़ है, मनुष्य का उससे कहीं अधिक कामवासना में बिगाड़ है। उसका मूल से विध्वंस हो जाय, भगवान से वह प्रार्थना करे कि रही सही भी काम सम्बन्धी पुरानी वासना मेरी समाप्त हो और मेरे परम ब्रह्मचर्य प्रकट हो। वो पुरुष धन्य हैं जिन्होंने जवानी अवस्था में अपनी बुद्धि को स्वस्थ रखा, अपने आपकी सुध रखी उनके आत्मा में ज्ञान का बल भरा हुआ है। जीव स्वभावत: निसर्गत: पापों की ओर दौड़ता है, बुद्धि पापों की ओर जाती है। अनादि से यह मलिन है। ऐसी स्थिति में भी कोई ज्ञानी पुरुष बाह्यविषयों में अपनी बुद्धि को न फंसाये, अपनी ओर ही अपना चित्त रखे तो सोचिये उसका कितना बड़ा ज्ञानबल है? तो शरीर के शिथिल होने से बुद्धि प्राय: स्वस्थ हो जाती है, वह भी कोई नियम नहीं। शरीर के शिथिल होने से इन्द्रिय के विषयों में जोश नहीं रहता और ऐसी स्थिति में यदि कुछ ज्ञान है तो शरीर जहाँ पड़ा है पड़ा रहने दो, यदि आत्मा अपने आपमें अपना गुन्तारा लगाये तो यह आत्मा तो आनन्दमग्न हो जायेगा। शरीर कहीं पड़ा है तो पड़ा रहे, उसके पड़े रहने से क्या हानि है? जो चीज दु:खदायी

मालूम की जाती है लौकिक लोगों के द्वारा उस ही का ज्ञान में उपयोग किया जाता है। लोग बुढ़ापे को दु:खदायी मानते हैं लेकिन ज्ञान है तो बुढ़ापा हमारे हित में बहुत कारण पड़ सकता है। जो गुण बुढ़ापे में आ सकते हैं बुढ़ापे के कारण वे गुण जवानी में कठिन है। यह विशेषता शरीर की अवस्था से भी चलती है। बहुत कुछ देख चुकने के बाद उसकी इच्छायें भी कम हो जाती हैं। जिसमें थोड़ा भी विवेक हो तो उसमें बुढ़ापे से बड़े गुण प्रकट होते है, इच्छायें कम होती हैं। जैसे जवानी में एक नया पौरुष मिलने से बड़ी-बड़ी इच्छायें होती हैं लेकिन वृद्धावस्था में उन सारी इच्छावों में कमी हो जाती है और साथ ही इन्द्रिय के विषयों की अभिलाषा भी कम हो जाती है। ऐसी स्थिति में ज्ञानी पुरुष उस बुढ़ापे का भी लाभ ले सकता है जो अत्यन्त अधिक लाभ है। नहीं तो एक समस्या का उत्तर दो। बुढ़ापा यदि कष्टदायी चीज है तो जवानी में भी तपश्चरण करने से लाभ क्या? क्यों बूढ़े बनेंगे, बुढ़ापे में सारे तपश्चरण देर हो जायेंगे। फिर तपश्चरण क्यों करते हैं इसका उत्तर दो। इसका उत्तर यह है कि बुढ़ापा कष्टकारी दु:खकारी नहीं है, यदि ज्ञानी मनुष्य है और अपने ज्ञान को अपने आपमें कुछ निरखने का उद्यम बनाये रहता है तो शरीर कैसा ही रहे उससे आत्मा का अहित नहीं होता। समाधिमरण प्राय: बुढ़ापे में ही होता है। तो समाधि की पात्रता बुढ़ापे में विशेषतया है कि अपनी सारी जिन्दगी के अनुभव हैं। समाधिमरण में आहार जल वगैरह के त्याग की विशेषता नहीं है किन्तु समता परिणाम की विशेषता है। नाना इच्छायें न जगें इसकी विशेषता है समाधिमरण में। जब इच्छायें नहीं रहती तो फिर आहार जल आदिक का त्याग भी महत्त्व पाता है। मुख्य तो कषायों का त्याग है। तो वे मनुष्य धन्य हैं जो वृद्धावस्था में भी अपनी बुद्धि को स्वस्थ रखते हैं और वे मनुष्य भी अधिक धन्य हैं जो जवान अवस्था में भी अपनी बुद्धि को स्वस्थ रखते हैं।। जिन्होंने तत्त्व का स्वरूप जाना है, जो कुछ विकार उत्पन्न नहीं करते, जो युवावस्था में भी चलायमान नहीं होते वे पुरुष धन्य हैं।

सल्लेखना का अन्तरङ्ग आचार- सल्लेखना का अर्थ है- सत् मायने भली प्रकार लेखन कहते हैं घिसने को, कुरेदने को। जैसे लोग कागज में लिख देते कहते हैं, कि हमने यह निबन्ध लिखा, हमने यह भजन लिखा तो इसे लिखना नहीं कहते हैं। इसे कहते हैं लेपना। बोलना तो यों चाहिए कि हम निबन्ध लेप रहे हैं, भजन का लेपन कर रहे हैं। लिखना नाम उसका है तो ताड़पत्रों पर लोहे की कलम से कुरेद करके फिर उसमें स्याही भरते हैं। ताड़पत्र पर लिखा जाता है और कागज पर लेपा जाता है। चूँकि पुराने जमाने में ताड़पत्र पर लिखा जाता था, और आजकल चल गए कागज, तो कागज पर लेपन करने को भी लोग लिखना कहते हैं। तो जो भली प्रकार कुरेदा जाता है उसका नाम है सल्लेखना। कुरेदना होता है धीरे-धीरे कुरेदना, और कुदरे अंश को दूर कर देना। जैसे ताड़पत्र पर हम धीरे-धीरे कुरेदते हैं ऐसे ही अपने में अपनी जो परिणति बन रही है कषाय

भावों की उन कषायों का कुरेदना इसका नाम है सल्लेखना। और, सल्लेखना मरण का अर्थ है भली प्रकार से इन कषायों को फेंकते हुए, त्यागते हुए मरण करना। और संन्यासमरण किसका नाम है? संन्याससहित जो मरण हो उसका नाम है संन्यासमरण।

अपने सहज स्वरूप का सहज विकास- अपने आपकी उन्नति के लिए हमें अपने आपमें कोई नई चीज नहीं बनाना है। बनी बनाई चीज है, स्वरूप है, अनादि से है। केवल वह जो विकृत हो गया है उपाधियों के कारण से उन उपाधियों को हटाने भर की जरूरत है। जैसे पत्थर में से मूर्ति बनानी है तो कारीगर कुछ नई चीज नहीं लगाता हैं उसमें, केवल जो बनी बनायी चीज भीतर में है जिसे कि वह प्रकट करेगा उसको ढकने वाले जो विकार है, पत्थर हैं उन पत्थरों को दूर करता है। उन विकारों को दूर करने के बाद जो चीज प्रकट हो जाती है वह कारीगर ने बनाया नहीं। उसी का ही अंश प्रकट होता है। इसी तरह यह समूचा आत्मा परमात्मा है, स्वरूप है, ज्ञानमय है, चैतन्यमात्र है, वही केवल रह जाय उसी का नाम परमात्मा है।

परमात्मत्व का प्रयोजन- हमें परमात्मा होने की क्या जरूरत है। हम यह नहीं चाहते कि हमारे ऐसा ज्ञान प्रकट हो कि तीन लोक और अलोक को जान जायें। क्या गर्ज पड़ी हैं तीन लोक और अलोक को जानने की? हम यह नहीं चाहते कि जो कहते आये लोग कि परमात्मा में अनन्त सुख होता है, यह भी कुछ चाह में नहीं है, मुझे उस अनन्तज्ञान का भी लोभ नहीं हैं। लोग कहते हैं कि परमात्मा में अनन्तशक्ति प्रकट हो जाती है। मुझे अनन्तशक्ति का भी लोभ नहीं है। ज्ञानी पुरुष की भावना की बात कह रहे हैं। उसे न कोई लोभ है, न कुछ चीज है, न परमात्मपद चाहता है, किन्तु जब एक सही ज्ञान बन गया, भ्रम दूर हो गया तो अब भ्रम वाली बात को कैसे मन में लाये? इस कारण से जैसा आत्मा का सहजस्वरूप है वैसा उसकी निगाह में रहता है। अब उस सहजस्वरूप की दृष्टि बन जाने से अपने आप ही केवलज्ञान होगा, अनन्तशक्ति होगी, अनन्तसुख होगा वह उसका फल है। वह तो केवल एक सत्य की खोज है। जो सत्य स्वरूप है, आत्मा का सहज भाव है वह निगाह में आ गया तो उसी को दृष्टि में लिए रहता है। मिथ्यावाद को वह कैसे ग्रहण करे? बस यह ज्ञानी की वृत्ति चलती है कि मुझे चाह कुछ नहीं है तभी तो लिखा है कि जिसके मोक्ष की भी इच्छा नहीं है, मोक्ष को भी नहीं चाहता वह मोक्ष को प्राप्त होता है। तो मोक्ष को न चाहे ऐसा वह कौनसा ज्ञान है, बस यही ज्ञान है कि चाहना कुछ नहीं है। जो सत्य और सहजस्वरूप है उसका भान हो गया तो जब सत्य का ज्ञान हो गया तो फिर सत्य का ज्ञान करते रहना है और कुछ नहीं करना है, मोक्षमार्ग में और करना क्या है? जो सत्यस्वरूप है उसका ज्ञान करते रहना यही मात्र एक मोक्षमार्ग में है। दूसरा नहीं है। पर ये अनेक काम जो बीच में किए जाते हैं व्रत समिति पालें,

यों आहार ग्रहण करें, यों पिछी लें, यों चलें, यों उठें ये काम क्यों करने पड़ते? यों करने पड़ते कि हमारे उस सत्यस्वरूप के ज्ञान रहने के काम में जब बाधायें आ जाती हैं तब अन्य इच्छायें होती हैं उन इच्छावों के समय हमारा ऐसा विवेक रहे कि हम एकदम तो विषयों की इच्छा में न बह जायें, इसके लिए ये सभी प्रवृत्तियाँ करते रहने के लिए नहीं हैं। करते रहने का काम तो सत्यज्ञान है। जो सहजस्वरूप है, सत्यस्वरूप है उसका ज्ञान करते रहें, यही मात्र मोक्षमार्ग में करने का काम है और दूसरा काम कुछ नहीं है।

स्वरूप का यथावत् प्रकट होने अथवा ज्ञान के ज्ञानस्वरूप में रहने में चारित्र की प्रकटरूपता- चारित्र अन्य किसी चीज का नाम नहीं, सिवाय इसके कि ज्ञान ज्ञान में स्थिर बना रहे, ज्ञान ज्ञान के स्वरूप को जानता रहे, यही चारित्र है और इसी कारण से सिद्धभगवान में चारित्रगुण नहीं बताया है। सिद्ध प्रभु में जो 8 गुण बताये हैं उनमें सम्यक्त्व तो अलग है- समकित, दर्शन, ज्ञान, अगुरुलघुत्व अवगाहना, सूक्ष्मत्व, अनन्तवीर्य, अन्यावाध, पर चारित्र कुछ अलग चीज नहीं है। ज्ञान-ज्ञानरूप रहे इसी का नाम चारित्र है। तो केवल एक ज्ञान करते रहना, यही तो है मोक्षमार्ग और एक ज्ञानरूप रह जाना, यही है मोक्ष। अब सिर्फ ज्ञानरूप रह जाने पर उसकी पहिचान कैसे बने, उस पहिचान के लिए अपेक्षा लगाकर और गुण बताये हैं। जैसे 8 गुण कुछ नहीं हैं अलग से। केवल एक ज्ञानस्वरूप है वही एक महागुण है पर पूर्वकाल में मिथ्यात्व कर्म की उपाधि से सम्यक्त्व नहीं था। मिथ्यात्व था तो यह बताने के लिए कि अब सिद्धों में मिथ्यात्व का अंश नहीं है, सत्यक्त्व गुण बताया है। संसार अवस्था में यह आत्मा छोटा बड़ा कहलाता था। गोत्र नामकर्म के उदय से नीचकुल, उच्चकुल छोटा बड़ा कहलाता था, हम सिद्ध भगवान का परिचय पाने के लिए उस पुरानी स्थिति की अपेक्षा रखकर बतलाते हैं कि अब सिद्ध भगवान छोटे नहीं हैं। और न परस्पर कोई छोटे बड़े हैं।

संसार अवस्था में यह जीव कर्मों के विपाक से नाना शरीरों में रहा करता था। तब एक जीव दूसरे जीव में न समा सकता था। आपका जीव वहाँ बैठे, हमारा यहाँ बैठे, कितना ही प्रेम हो, पर आपके जीवप्रदेश में हमारे प्रदेश समा नहीं पा रहे। प्रेम में चाहे यह सोचें कि प्रदेशों में प्रदेश समा जायें लेकिन नहीं समा सकते। अब सिद्ध भगवान में यह दुराभाव नहीं रह पाया। जहाँ एक सिद्ध है वहाँ अनन्त सिद्ध समा सकते हैं। यह बात बताने के लिए अवगाहना गुण बताया है। जैसे संसार अवस्था में नाना प्रकार की बाधायें होती थी कर्मोदय में अब वहाँ बाधायें नहीं हैं तो यों सिद्ध भगवान का परिचय कराने के लिए गुणभेद बताये गए हैं। गुण नाम उसका है जिसके द्वारा भेदा जाय, विशेषण किया जाय, परिचय कराया जाय। किसी मनुष्य का जब हम परिचय कराते हैं तो उसके

गुणों का वर्णन करते हैं ना। तो नाना गुण इसलिए बताये जा रहे हैं कि लोगों को परिचय हो जाय। वस्तु का परिचय कराने के लिए गुणों का कथन है। वस्तु तो अखण्ड है, स्वभाव अखण्ड है, उसका प्रतिसमय का परिणमन अखण्ड है। एक समय में वस्तु का जो भी परिणमन है वह अखण्ड है। तो अखण्ड द्रव्य का अखण्ड वस्तु का परिचय कराने के लिए गुण की कल्पना है, पर्यायों की कल्पना है। वह तो जो है सो ही है। जो अनुभव द्वारा ही गम्य है, इन्द्रिय से अगोचर है ऐसा यह आत्मा जब सही रूप में जैसा उसका अपने सत्त्व के कारण स्वरूप है वैसा ही रह जाय, बस इसी के मायने है परमात्मा हो जाना।

केवल होने के लिए अपना कर्तव्य- सिद्ध अथवा केवल बनने के लिए हमें क्या करना है? अभी से हम उस केवलस्वरूप को समझते रहें यही करना है। हमें अकेला बनना है, परमात्मा बनना है। रागद्वेष, क्रोध, माया, लोभ सब झंझटों से अलग रहकर केवल अपने स्वरूप में रहना है, इसके लिए हमें यहाँ यह ज्ञान करना ही होगा कि ऐसा केवल मेरा स्वरूप है। यह स्वरूप जब हमें अपने केवल की एकत्व की निजस्वरूप की श्रद्धा न हो तो बन कैसे सकता है? हम यहाँ तो यह मानते रहें कि शरीर को निरख कर यह ही मैं हूँ, द्वितीय भाव में, द्वितीय पदार्थ में अपने आत्मीयत्व की श्रद्धा रखें और चाहें कि हम परमात्मा बन जायें, केवल बन जायें, यह नहीं हो सकता है। केवल बनना है तो केवल की श्रद्धा अभी से करनी होगी। मैं केवल हूँ, अपने स्वरूपमात्र हूँ, ऐसी श्रद्धा अभी से बनानी होगी तो उसी श्रद्धा और उसी ज्ञान के बल से हम केवल बन जायेंगे। इन कर्मों को हम हाथ पैर से नहीं हटा सकते और कोई प्रकार की क्रिया से दूर कर नहीं सकते। योग से भी दूर नहीं होते। बस सबसे बड़ा उपाय निवृत्ति का है। एक कहावत है कि भली मार करतार की, दिल से दिया उतार। यह लौकिक कहावत है। जब कोई मनुष्य हमें अपने दिल से उतार दे, वह हमारी चाह न करे तो हम कहते हैं कि इसने हमें बहुत बड़ी मार दी, इसने हमें दिल से उतार दिया। तो दिल से उतार देना यह सबसे बड़ी मार है। तो कर्मविकार रागद्वेष इन सबसे बड़ी मार यह है कि इनको हम दिल से उतार दें। इनको हम अपने उपयोग में न बसायें तो ये अपने आप नष्ट हो जायेंगे। विकारों से उपेक्षा करना तब यह बनता है जब हम यह भान कर सकें कि मैं स्वयं ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ, परिपूर्ण हूँ, मुझमें कोई अधूरापन नहीं है और न मुझे जगत में कुछ करना है, मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, इसे जानता रहूँ बस यही करना है। जानना भी नहीं करना है किन्तु ज्ञानस्वरूप हूँ तो जाने बिना रहता तो नहीं ना, इसलिए मैं केवल जानता भर रहूँ इतना ही मात्र करने को मेरा काम पड़ा है, अन्य कुछ भी जगत में मेरे करने को काम नहीं पड़ा है। यों समझिये कि जगत के सब जीवों के लिए हमारी कोई सत्ता नहीं है। मैं हूँ ही नहीं। ये सारी बातें वृद्ध होने पर प्राप्त होती है। जो वृद्ध हैं अर्थात् जो ज्ञान में, तपश्चरण में बढ़े हुए हैं ऐसे संत पुरुषों की संगति से चित्त में एक ऐसा उत्साह

बनता है कि मैं केवल ज्ञानविकास के लिए ही हूँ, विकार भावों के लिए मैं नहीं हूँ ऐसा एक दृढ़ संकल्प बनता है। तो प्रभुभक्ति में हम यही चाहें कि हे प्रभो ! मेरे में परमब्रह्मचर्य प्रकट हो। सर्वसंकल्प विकल्प मेरे से दूर हों, जैसा मेरा सहजज्ञानस्वरूप है मैं वैसा ही रह जाऊँ। इसके लिए परमब्रह्मचर्य की उपासना करना हमारा परम कर्तव्य है।

श्लोक- 774

वार्धक्येन वपुर्धत्ते शैथिल्यं च यथा यथा।
तथा तथा मनुष्याणां विषयाशा निवर्त्तते।।

वार्द्धक्य से शरीर की शिथिलता होने के साथ साथ विषयाशानिवृत्ति की विशेषता- बुढ़ापे के कारण जैसे जैसे मनुष्यों का शरीर शिथिलता को धारण करता जाता है वैसे ही वैसे विषयों की आशा भी घटती जाती है, परन्तु युवावस्था में ही जिनकी आशा घट जाय, नष्ट हो जाय यह बात विशेषता की है। वृद्ध पुरुषों का लक्षण कहा जा रहा है। अवस्था से वृद्ध होने पर इन्द्रियाँ शिथिल हो ही जाती हैं और कुछ न कुछ सभी इन्द्रियाँ एक साथ शिथिल होने लगती हैं। और, जहाँ इन्द्रियाँ शिथिल हुई वहाँ विषयों की आशा नहीं रहती। चाहे कोई बूढ़ा मन में इच्छा रखे, परविषय भोग लूँ, यह चीज मिल जाय, ऐसी आशा उनके नहीं रहती है। बूढ़े हो गए, दाँत गिर गए, कोई कड़ी चीज चख नहीं सकते तो उसके मिलने की आशा ही वे क्या करेंगे? यों ही वृद्धावस्था में सभी विषयों के भोगने की आशा दूर हो जाती है, पर इस तरह की आशा दूर अगर युवावस्था में की हो तो वह सही मायने में ज्ञानबल के कारण होता है। छहढाले में लिखा है- बालपने में ज्ञान न लह्यो, तरुण समय तरुणीरत रह्यो, अर्द्धमृतकसम बूढ़ापनो, कैसे रूप लखे आपनो? बालपने में तो ज्ञान प्राप्त नहीं किया, युवावस्था में स्त्री में रत रहा, वृद्धावस्था में अर्द्धमृतकसम रहा तो यह अपने स्वरूप को कैसे लख सकता है? बालपने में तो ज्ञान न था, आत्मस्वरूप लखेगा ही क्या? तरुण समय में स्त्री में लीन रहा, उसी में अपना बड़प्पन माना और बुढ़ापे में अधमरा जैसा शरीर रहा तो आत्मस्वरूप को कैसे लख सकता है? इस सम्बन्ध में एक शंका की जा सकती है कि जितने भी ऋषि संत मुनिजन होते हैं तो वे बूढ़े तो होंगे ही, बूढ़े होने पर ही आत्मस्वरूप तो लख न पायेंगे तो क्या उन सबकी दुर्गति ही होगी? तो इस श्लोक में इसका अर्थ यों लगाना चाहिए कि जिस पुरुष ने बालपने में ज्ञान नहीं पाया उसी पुरुष ने तरुण समय में स्त्री में आसक्ति रखा तो वही पुरुष जब बूढ़ा होता है तो

आत्मस्वरूप नहीं लख सकता। किन्तु जिन्होंने ज्ञान प्राप्त किया है और जवानी में भी विषयों से उनकी अरुचि रही है वे बूढ़े हो जायें, अधमरे की तरह शरीर हो जाय तो भी वे आत्मस्वरूप को लख सकते हैं। तो वृद्ध नाम है उनका जो ज्ञान में संयम में बढ़े हों। मुख्य बात तो ज्ञान की है और जिनका ज्ञान सही मायने में बना है, बढ़ा है उनके संयम तो होता ही है अर्थात् ज्ञान ज्ञानरूप ही रह जाय इस तरह की ज्ञानवृत्ति जिनकी चल रही हो उन्हीं का नाम संयमी है। मैं ज्ञाता हूँ ऐसी श्रद्धा का नाम सम्यग्दर्शन है और अपने आपका ऐसा ज्ञान रखना इसका नाम है सम्यग्ज्ञान और अपने आपमें ज्ञान की लीनता होना इसका नाम सम्यक्चारित्र है। ये तीनों धर्म ज्ञान पर अवलम्बित हैं सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र। इनको ही अमृतचन्द्रसूरि इस तरह कहते हैं कि पदार्थ के यथार्थ श्रद्धान्रूप से होने का नाम सम्यग्दर्शन है और पदार्थों के ज्ञान के रूप से ज्ञान के होने का नाम सम्यग्ज्ञान है और रागादिक का परिहार करते हुए के स्वभाव से ज्ञान के होने का नाम सम्यक्चारित्र है। सब कुछ एक ज्ञान ही हो- धर्मज्ञान, चारित्रज्ञान, श्रद्धान ज्ञान, मोक्षमार्ग ज्ञान, मोक्षज्ञान सब कुछ ज्ञानमात्र ही तत्त्व है। अनेक जो संयम धारण करने पड़ते हैं वे ज्ञान में भेद डालने वाले की विभिन्नता से भेद पड़ते हैं तो जिनके ऐसा ज्ञानबल प्रकट है वे युवावस्था से ही वृद्ध कहलाते हैं।

वृद्धों के अनुभव की प्रामाणिकता- वृद्धों का अनुभव सत्यार्थ हुआ करता है। लोक में भी किसी भी बात की सलाह बुजुर्गों से ली जाती है। छोटी अवस्था वालों का चित्त जो अपने दिल की इच्छा के अनुकूल हुआ करता है। वे सही कोई बात का निर्णय कर लें यह कुछ कठिन है, किन्तु जिनकी अवस्था अधिक है उन्हें चूँकि अनेक मार्गों से अपने जीवन में गुजरना पड़ता है और सभी बातों का अनुभव भी होता है तो वे सुलझी हुई बुद्धि के हो जाते हैं। यों ही जो ज्ञान में वृद्ध हैं, विवेकशील मनुष्य हैं, उन्हें अपने ज्ञान को सही रखने के सारे अनुभव होते हैं, उन्होंने ज्ञानतत्त्व का अधिकाधिक अभ्यास किया है। उन्हें ज्ञानसम्बन्धी, धर्मसम्बन्धी, मोक्षमार्गी सम्बन्धी सारे अनुभव ठीक-ठीक होते हैं जिन्होंने यह समस्त ग्रन्थ लिखा है, बाँचने में ये सभी उपदेश सीधे लगते है कि ऐसा तो जो चाहे उपदेश कर सकता, लिख सकता लेकिन अनुभव करने वाले संत पुरुषों ने जिस शैली से, जिस दृष्टि से लिखा है वे सब शब्द भावों को जल्दी प्रकट करने वाले होते हैं। और साधारणजन उन्हीं शब्दों को कहें तो उनका वह भाव प्रकट नहीं हो पाता है। तो प्रकरण की बात यह कही गयी कि व्रती मनुष्य वे हैं जो विषयों से निवृत्त हैं और ज्ञान का अधिकाधिक अभ्यास करते हैं, मैं ज्ञानमात्र हूँ ऐसी उस ज्ञानस्वरूप की भावना जगना और इस तरह से अपने आपका मनन करना और ऐसा मनन करना कि जिस अन्य किसी बात का मनन करने पर यह केवल उस ही रूप सा बन जाता, इसी प्रकार मैं ज्ञानमात्र हूँ ऐसा मनन करने पर अपने को ज्ञानमात्र अनुभवने लगें और

विकल्प दूर हों, इस शैली से जो अपने को ज्ञानमात्र भावना करते हैं वे मनुष्य वृद्ध हैं। उनकी सेवा दुर्धर ब्रह्मचर्य व्रत के पालन करने में साधक होती है।

श्लोक- 775

हीनाचरणसंभ्रान्तो वृद्धोऽपि तरुणायते।
तरुणोऽपि सतां धत्ते श्रियं सत्संगवासित:।।

सत्सङ्ग से उत्तमश्री का लाभ- जो पुरुष वृद्ध होकर भी हीन आचरण रखने से व्याकुल होता हुआ भ्रमण करें, वह वृद्ध होने पर भी तरुण है। यहाँ तरुण शब्द से अर्थ लिया गया है विषयों में व्यग्र रहने, व्याकुल रहने से। जो हीन आचरण का हो, पतित हो उसका नाम है तरुणाई, और ज्ञानध्यान संयमव्रत में चढ़े हुए का नाम है वृद्धता। जो पुरुष वृद्ध होकर भी हीन आचरण से व्याकुल होकर भ्रमण करता फिरता है वह वृद्ध होने पर भी तरुण है। और जो सत्संगति से रहता है वह तरुणाई पर भी सत्पुरुषों जैसी प्रतिष्ठा पाता है अर्थात् वह वास्तव में वृद्ध है, बुजुर्ग है। यह सब बात अपने अन्दर की है। यह आत्मा तो केवल एक उपयोग मात्र है, उपयोग लक्षण ही कहा गया है इस जीव का। जब यह उपयोग अपने ज्ञानस्वरूप में लगाता है और ज्ञानस्वरूप को ही अपनाता है, यही मात्र मैं हूँ उसको अन्य सब परभावों से विरक्ति मिलती है। त्याग नाम ज्ञान का है। किसी भी वस्तु को पर जानकर पर से जब उपेक्षा करके अपने स्वरूपमात्र का ज्ञान करे तो ऐसे ज्ञान का ही नाम वास्तव में त्याग है। किसी भी वस्तु का त्याग किया जाता तो उसके त्याग का प्रयोजन त्यागना मात्र नहीं है, किन्तु अपने आपके स्वरूप में जुड़ने का प्रयोजन है। अज्ञानी जन तो परम्परा से सुनते आये कि चीजों का त्याग करना चाहिए त्यागी बनना चाहिए, ऐसा ही जानकर परवस्तुवों का त्याग करके सन्तुष्ट हो जाते हैं, किन्तु परवस्तुवों का त्याग करना जिस प्रयोजन के लिए है वह प्रयोजन यदि न बना तो उस त्याग से मोक्षमार्ग की सिद्धि नहीं हो सकती है। समस्त त्याग का प्रयोजन है आत्मा की ओर लगना। चाहे कोई किसी वस्तुवों में आत्मा की ओर नहीं लग नहीं पाता, पर आत्मा की ओर लगने की पात्रता तो बनती है। हिंसा के त्याग से, अभक्ष्यपदार्थों के त्याग से, नाना पापों के त्याग से आत्मा में लगने की पात्रता बनती है और जब इस पात्रता के बाद अपने अन्तरङ्ग के विकार भावों का भी त्याग करते हैं अर्थात् उनसे मुख मोड़ते हैं तो आत्मा की ओर झुकाव होता है। त्याग की दो श्रेणियाँ है- एक बाह्यपदार्थों का त्याग और एक अपने अन्दर में उठने वाले औपाधिक

भावों का त्याग। बाह्यपदार्थों के त्याग ये आत्मा की ओर लगने की पात्रता बनती है और अन्दर में उठे हुए परभावों के त्याग से आत्मा की लगन बनती है। तो वहाँ भी बाह्य त्याग में भी आत्मा की ओर झुकने का प्रयोजन है।

त्याग का प्रयोजन पाये बिना मात्र परक्षेत्र से बाह्य का त्याग होने में त्याग की वास्तविकता का अभाव- देवपूजा, गुरूपासना, स्वाध्याय, तप, आदिक के करने का प्रयोजन अपने आपकी ओर झुकना है। कोई प्रभु स्मरण तो खूब करे और अपने आत्मस्वरूप की ओर कुछ भी झुकाव नहीं है तो उससे अपने को लाभ क्या मिला? इसी तरह बाह्यवस्तुवों का जो त्याग किया जाता है उसका भी प्रयोजन है अपने आत्मस्वरूप की ओर झुकना। उसका लक्ष्य ही न हो और कोई अपने को परवस्तुवों का त्यागी मानें, मोक्ष का अधिकारी माने तो वह उसकी कल्पना मात्र है। उसका परवस्तु का त्याग तो परवस्तु में लगना हुआ। परवस्तु के त्याग में किसी परवस्तु की दृष्टि हुई तो यह तो परवस्तु में लगना कहलाया। तो त्याग करके भी अज्ञानी जीव परवस्तु का ग्रहण कर रहा है। यह उसका कहना मात्र है कि मेरा अमुक चीज का त्याग है। वह बाहरी क्षेत्र में परवस्तु का त्याग करके अन्दर में परवस्तु का ही ग्रहण कर रहा है। उसके उपयोग में उसका त्याग समाया हुआ है। मैंने बाह्य चीज का त्याग कर दिया, मैं त्यागी हूँ इस आशय में उसने बाह्य वस्तु को पकड़ रक्खा है। उस परवस्तु के त्याग से जो आत्मलाभ होना चाहिए था, वह नहीं हो सका। और, ऐसी भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ होती हैं। जैसे भोजन के योग्य जो पदार्थ हैं उनमें कुछ भी पहिले से निर्णय नहीं बनता कि यह चीज खायेंगे, यह न खायेंगे। कुछ भी निर्णय न बनकर सहज वैराग्य होने पर जो मिले, बिना आसक्ति के उसी का उपभोग कर ले, अपनी क्षुधा मिटा ले एक तो यह भाव और अमुक का त्याग, अमुक का त्याग ऐसा त्याग, रखकर भोजन के समय में कल्पनाएँ जगाना, इसका तो त्याग है, यह ठीक है, यह ठीक है, एक यह भाव। तो कभी परपदार्थों के त्याग का निर्णय न रखकर समय पर जो मिले अनासक्तिपूर्वक उपभोग करके समय निकले उसमें सहज वैराग्य की गंध रह सकती है और वस्तुवों का त्याग करके फिर विकल्प बनाये तो उस विकल्प से तो यह साबित है कि त्याग भी कुछ नहीं रहा और एक विह्वलता और बना ली। तो प्रयोजन यह है कि त्याग करने का उद्‌देश्य आत्मा के निकट आने का है। बाह्यपदार्थों का निर्णयरूप से त्याग करना असली मायने में अगर कोई त्याग करे तो वह आसान नहीं है। जिसका त्याग करे उसका विकल्प न आ जाय और उसके कारण नाना विकल्प न आ जायें और उसके कारण नाना विकल्प न उठें, इस प्रकार की तैयारी से परवस्तुवों का त्याग होना वह त्याग है और यही वास्तव में संयम है। यों भले ही कोई वृद्ध हो जाय, शरीर शिथिल हो जाय, इन्द्रियाँ भोग नहीं सकती, किन्तु मन में कल्पनाएँ बनायें और वे ही कल्पनाएँ बनायें और वे ही कल्पनाएँ अहित, माया, दु:ख के लिए। उन कल्पनाओं से

व्याकुल हो तो वह वृद्ध होकर भी तरुण समझना चाहिए। जैसे लोकव्यवहार में कोई बूढ़ा पुरुष यदि कुछ रागभरा मजाक करता है तो लोग उसे कहते हैं कि देखो इस बूढ़े को, यह बूढ़ा जवान बन रहा है, यों कहकर लोग उसकी मुखोल करते हैं। तो इसी प्रकार अध्यात्म में उसकी यह मुखोल ही है कि दृढ़ होने पर फिर विषयों की अभिलाषा बढ़ाये, हीन आचरण रखे, कोई कामविषयक कल्पनाएँ उठाये तो वह वृद्ध होकर भी तरुण है और जो सत्संगति में रहे वह तरुण है फिर भी वृद्ध कहलाता है, सत्पुरुष जैसी प्रतिष्ठा वह प्राप्त करता है।

श्लोक- 776

साक्षाद्वृद्धानुसेवेयं मातेव हितकारिणी।
विनेत्री वागिवाप्तानां दीपिकेवार्थदर्शिनी।।

माता की भांति हितकारिणी वृद्धानुसेवा- कुछ श्लोकों में वृद्ध मनुष्यों का लक्षण बताया है। उन वृद्ध मनुष्यों की सेवा करना माता के समान हितकारिणी है। जैसे माँ बच्चे का हित ही सोचती है। उस बच्चे के प्रति माँ का कितना गहरा प्रेम होता है? वह माँ अपने बालक को देखते ही सारे दु:ख भूल जाती हैं। माँ जैसे बच्चे का हित करती है इसी प्रकार यह वृद्धसेवा भी साक्षात् हित को करने वाली है। माता शब्द है उसमें प्र उपसर्ग लगाने से प्रमाता शब्द बन गया। प्रमाता का अर्थ है प्रमाण करने वाला, यथार्थ जानने वाला और वही माता का अर्थ है। माता का दूसरा अर्थ है मापने वाला। जैसे बच्चे के सब भावों को माँ माप लेती है, उसके जरा-जरा से इशारे को देखकर माँ उसके मन की बात को समझ जाती है और उसही अनुरूप माँ बच्चे को जवाब भी देती रहती है। तो इस प्रकार जो वृद्ध मनुष्यों की सत्संगति है उसमें इतना अनुभव बढ़ जाता है कि वह सब स्थितियों को भाँप लेता है और उन सब परिस्थितियों में जो अनुकूल आचरण होना चाहिए उन आचरणों को करके अपना हित साध लेता है। तो यह वृद्धों की सेवा साक्षात् माता के समान हित करने वाली है।

जिनवाणी की भांति विनेत्री दीपकवत् अर्थदर्शिनी वृद्धानुसेवा- जैसे जिनवाणी विनेत्री है, नायक है, सायक है, साक्षात् शिक्षा में ले जाने वाली है इसी प्रकार यह वृद्धसेवा भी साक्षात् शिक्षा देने वाली है। गुणी जनों का सत्संग, ज्ञानी संयमी पुरुषों का सत्संग एकदम महान उल्लास को पैदा कर देता है और विकार भावों को एकदम हटा देता है। बड़े-बड़े स्वाध्यायों से भी जो विकार न हट सके गुणीजनों के अपूर्व सत्संग से, अपूर्व मिलन से वे विकार अनायास शीघ्र दूर हो जाते हैं। रामचन्द्र के

पूर्वजों में एक वज्रभानु हुए जिनके साले का नाम था उदयसुन्दर। वज्रभानु बड़ा मोही पुरुष था। प्रथम ही बार विवाह होने के पश्चात् जब साला बहिन के लिवाने आया तो बज्रभानु अपनी स्त्री के साथ चल पड़ा, लेकिन जंगल में जब जाता है तो एक मुनि महाराज के दर्शन हुए। उनके दर्शनमात्र से बज्रभानु का ज्ञाननेत्र खुल गया और सारा मोह एकदम दूर हो गया। जो अनेक बार उपदेश भी दिये जाते हैं और बहुत बार स्वाध्याय भी करते हैं तो भी जो बात नहीं बन सकती वह बात दर्शनमात्र से बन गई। तो वृद्धसेवा साक्षात् शिक्षा देने वाली है, और यह वृद्धसेवा दीपक के समान पदार्थों को दिखाने वाली है। दीपक बिना रागद्वेष के जो जैसा है तैसा दिखा देता है, चाहे चोर हो, चाहे साहूकार, चाहे घर वाला हो, चाहे गैर, सबके लिए एक ही तरह से यह दीपक पदार्थों को दिखाता है, उसमें रागद्वेष की उत्पत्ति नहीं होती, ऐसे ही वह ज्ञान ही प्रशंसनीय ज्ञान है जहाँ रागद्वेष की उत्पत्ति नहीं होती। सबका सही रूप में ज्ञान कर लेता है। ऐसी गम्भीरता ऐसी निष्पक्षतापूर्वक ज्ञान की प्रवृत्ति होने की बात वृद्धसेवा में अनायास प्राप्त होती है। गुणी पुरुषों के सत्संग में रहकर जो आत्मकल्याण की दिशा मिलती है, भावना बनती है, उस आत्मकल्याण की भावना वाले पुरुष के अब बाह्यपदार्थों में राग और द्वेष नहीं रहता है। तो वृद्धसेवा माता की तरह हितकारिणी है और जिनवाणी की तरह शिक्षा देने वाली है। हित के मार्ग में ले जाने वाली है और दीपक के समान पदार्थों को दिखाने वाली है। ऐसे वृद्ध पुरुषों की सेवा में यह ब्रह्मचर्यव्रत उसके निर्दोष पलता है। किसी कार्य में लगे रहे तो विकारभाव हामी नहीं बनते हैं और यदि कोई सत्संग, जैसे वृद्धों की सेवा जैसे पवित्र कार्य में लगे रहें तो उनके विकार भाव नहीं जगते और ब्रह्मचर्य की उनके अपूर्वसाधना होती है।

श्लोक- 777

कदाचिद्देववैमुख्यान्माताऽपि विकृतिं भजेत्।
न देशकालयोः क्वापि वृद्धसेवा कृता सती।।

दुर्लभतम वृद्धसेवा का लाभ लेने की प्रेरणा- अनादिकाल से विषयविकारों से मलिन यह आत्मा अनेक दुर्गतियों में जन्म लेता है और मरण करता है। यों जन्म मरण के चक्र लगे हुए इस जीव ने जो सुयोग से मनुष्य देह प्राप्त किया वह मनुष्यदेह मिलना अतीव दुर्लभ है। मनुष्यजन्म की दुर्लभता की बात प्रायः सभी जानते है। इस जीव का आदि निवास जो कि अनादिनिवास है, निगोद

रहा, जहाँ ज्ञान की दृष्टि से देखा जाय तो शून्य सा कह सकते हैं। केवल एक इन्द्रिय, वह भी नहीं दिखती है, न उनका शरीर विशाल है, किन्तु नाममात्र का एक इन्द्रिय से ज्ञान हो रहा है, ऐसे निगोद भव से निकलकर यह जीव अन्य स्थावरों में जन्म लेता है और फिर कठिनाई से दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय में, यों विकलत्रय में जन्म लेता है। उत्तरोत्तर कितने दुर्लभ है ये स्थान? इससे अन्दाज कर लें कि यह ज्ञानमय जीव कहाँ तो केवल एक स्पर्शमात्र से कुछ जानता रहता था अब यह रसना इन्द्रिय से भी ज्ञान करने लगा। दो इन्द्रिय जीवों में रसना इन्द्रिय भी उत्पन्न हुई, रस का ज्ञान करने लगा तो केवल एक इन्द्रिय के भव में जिस प्रकार का ज्ञान था उस ज्ञान से कितना विशाल ज्ञान बन गया कि इस रस का भी ज्ञान होने लगा। फिर घ्राण इन्द्रिय भी मिली तो सुगन्ध दुर्गन्ध का भी ज्ञान करने लगा। चक्षुइन्द्रिय मिली तो सब कुछ दिखने लगा। मक्खी, मच्छर, भंवरा, ततैया इनको आँखों से दिखता है। तो कीड़ा-मकौड़ा की अपेक्षा कितनी श्रेष्ठता इनमें रहती है। इसके बाद बड़ी दुर्लभता से यह जीव पंचेन्द्रिय बना। पंचेन्द्रिय में भी असैनी बना तो वहाँ भी कौनसा हित प्राप्त किया? सैनी पंचेन्द्रिय में भी मनुष्य जो उत्कृष्ट मन वाला है। जिसमें विवेक की अधिकता रहती है, जहाँ से संयम धारण करके मुक्ति प्राप्त की जा सकती है ऐसे मनुष्यभव में हम आपने जन्म लिया और मनुष्यभव पाकर भी हितकारी शासन न मिले, विषयकषायों से दूर हटने के लिए बुद्धि प्राप्त न हो तो ऐसे मनुष्यभव से भी लाभ क्या होता है? तो ऐसा दुर्लभ जैन शासन भी पाया, अब जो उन्नति के लिए हम कदम बढायें। उन सब कर्तव्यों में प्रधान और प्रथम कर्तव्य है वृद्धसेवा। जो ज्ञान, तपश्चरण, संयम में बढ़े हुए हैं ऐसे संत पुरुषों की संगति करना, उनकी सेवा उपासना करना वृद्धसेवा है। जो पाप बड़े-बड़े तपश्चरण से दूर किए जा सकते हैं वृद्ध संत पुरुषों के समागम में उनके दर्शन मात्र से ऐसा अद्भुत आत्मा में प्रभाव बढ़ता है कि भव-भव के संचित विकार भी नष्ट हो जाते हैं।

वृद्धसेवा में अलाभ के सन्देश का अभाव- यह वृद्धसेवा अर्थात् संत पुरुषों की संगति ज्ञानी विरक्त संतपुरुषों की उपासना यह माता के समान हितकारिणी है। कदाचित् भाग्य विमुख हो, उदय प्रतिकूल हो तो माता भी पुत्र का अहित चाहने वाली बन जाय, पर वृद्धसेवा संतपुरुषों की संगति यह कभी अहित में ले जाने वाली नहीं होती है। इस जीव का सर्वोत्कृष्ट शरण है आत्मा का ध्यान। ध्यान तो सबके लगा है। अब यह ध्यान कहाँ ले जायें, किस ओर लगायें कि आत्मा को शान्ति प्राप्त हो? खूब अनुभव भी किया हो, परिजनों में, वैभव में, प्रतिष्ठावों में किन्हीं भी परतत्त्वों की ओर ध्यान लगाया जाय तो वहाँ धोखा ही धोखा मिलता है, आत्मा को लाभ की बात कुछ नहीं मिलती। लाभ तो वह है जहाँ सन्तोष हो, तृप्ति हो, निर्विकल्पता हो और आत्मीय विशुद्ध आनन्द का अनुभवन हो। किन्तु, यह बात किसी भी परपदार्थ का ध्यान करने से प्राप्त नहीं होती है। एक आत्मा का ध्यान

ही इस जीव को उत्कृष्ट शरण है। उस आत्मध्यान की पात्रता कब जगेगी जब योग्यता बने कि मैं निज अंतस्तत्त्व में ध्यान में मग्न हो सकूँ, उस पात्रता के लिए कहा जा रहा है कि ध्यान के मुख्य अंग तीन हैं- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। ध्यान के बाह्य अंग यद्यपि प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा आदिक अनेक हैं, नियम लेना, व्रत करना, श्वास रोकना किसी एक लक्ष्यभूत पिण्ड पर, बिन्दु पर दृष्टि जमाना, यों अनेक साधन किए जाते हैं पर शुद्ध साधन जिस बिना आत्मध्यान नहीं बन सकता है वह है सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। तो सम्यक्चारित्र के प्रकरण में ब्रह्मचर्य महाव्रत की बात चल रही थी कि इस जीव को हितकारी एक परमब्रह्मचर्य तपश्चरण है। मान लो सब कुछ संयम तप नियम भी किए जायें एक ब्रह्मचर्य न सधे, न बने तो उनकी क्या कीमत होती है? इसको अस्थिरता से जान सकते हैं। जिनके ब्रह्मचर्य न हो, चित्त की शिथिलता होती है और उसमें चारित्र का पालन नहीं बनता तो ब्रह्मचर्य व्रत की इस जीव के उद्धार के लिए बहुत बड़ी प्रमुखता है। ब्रह्मचर्य व्रत उनके भली प्रकार निभता है जिनमें वृद्धसेवा की रुचि है। जैसे आयुर्वेद में कहते हैं कि आंवला माता के समान अनुग्रह करने वाली चीज है। रोग में खाये, बिना रोग में खाये सदैव स्वास्थ्य में सहायता देने वाला है। कदाचित् ये औषधियां स्वास्थ्य के प्रतिकूल बन जायें पर यह आंवला स्वास्थ्य के प्रतिकूल नहीं बनता, यों ही लोक में माता और पुत्र के विषय में कहते हैं कि कदाचित् माता भी पुत्र से विमुख हो जाय, पुत्र का हित माता न चाहे, माता भी पुत्र की अहितकारिणी बन जाय किन्तु सत्संगति, वृद्धसेवा ये कभी अहितकारिणी नहीं बन सकते हैं। तिर्यंचों में देखा जाता है कि सर्पिणी अपने बच्चे का भक्षण कर लेती है, कुत्ती भी विशेष क्षुधा होने पर अपने बच्चे का भक्षण कर लेती है, मनुष्यों में भी सब स्वार्थ के नाते हैं, स्वार्थ के विपरीत जब डोर अधिक खिंच जाती है तो कहाँ माता और पुत्र का भी नाता टूट जाता है, लेकिन सत्संगति कभी भी धोखा नहीं दे सकती है।

वृद्धसेवा के धाम- सत्संगति का सबसे बड़ा रूप है समवशरण। जहाँ भूमि पर पग रहते ही मनुष्य के विषय कषाय दूर हो जाते हैं। कोई कितना ही अभिमान में हो लेकिन उस भूमि पर पग धरते ही मानस्तम्भ के निरखते ही अभिमान चूर हो जाता है। जहाँ अनेक देव देवियाँ मनुष्य बड़े बलवान जीव अपनी पूर्ण कला से संगीत गायन आदि से भक्ति प्रदर्शित करते हैं, वहाँ जो कलावान मनुष्य पहुँचते हैं उन सबकी यह इच्छा रहती है कि मैं उत्कृष्ट कला का प्रदर्शन करके अपनी भक्तिभाव बढ़ाऊँ। उससे अधिक कला दिखाने का कहाँ चाव होता होगा। ऐसे स्थान पर समवशरण में जहाँ प्रभु साक्षात् विराजमान् होते हैं, उनकी संगति होती है, उनकी उपासना होती है, यह तत्काल ही इस जीव पर बड़ा प्रभाव डालती है और फिर उसके बाद मध्यम संग मुनिजनों का है, फिर अपने ही गाँव में जो भी ज्ञानी पुरुष हैं जो संसार, शरीर, भोगों से विरक्त हैं जिनमें

आत्मकल्याण की रुचि जगी है ऐसे मनुष्यों की संगति में बैठें तो वहाँ भी औसतन बहुत प्रकार के विकार दूर हो जाते हैं। तो यह वृद्धसेवा किसी देश में, किसी काल में भी की जाय तो वह अहित नहीं कर सकती है। मनुष्य का जब से भी उद्धार प्रारम्भ होता है तब उसका आरम्भ सत्संग से होता है। जिनका भी आज तक उद्धार हुआ है, जो अपनी समाज और देश के नायक बने हैं, जिन्होंने सत्पथ दिखाया है उनका उद्धार किसी न किसी महापुरुष के सत्संग से प्रारम्भ होता है और फिर सत्संग के प्रताप से उद्धार बढ़ता जाता है और पूर्ण योग्यता आ जाती है। प्रयोजन यह है कि हम सबको यह निर्णय रखना चाहिए कि हमारे उत्थान में सहायक प्रधानतया सत्संग है। हम कभी मोही, मलिन, निन्दक, अवगुणी पुरुषों की संगति में न रहें। यह सत्संग किसी जीव को अहित के लिए तो प्रेरणा करता ही नहीं। और प्रेरणा मिलती है आत्महित की। अतएव वृद्ध पुरुषों की सेवा अर्थात् ज्ञानी पुरुषों का सत्संग हम लोगों को अवश्य करना चाहिए।

श्लोक- 778

अन्ध एव वराकोऽसौ न सतां यस्य भारती।
श्रुतिरन्ध्रं समासाद्यं प्रस्फुरत्यधिकं हृदि।।

सत्सङ्गमें सद्वाणीश्रवण से हृदयनेत्र के नैर्मल्य का अवसर- वे पुरुष अंध हैं जिनके कानों में संत पुरुषों की पवित्र वाणी प्राप्त नहीं होती और हृदय में एक ज्ञानप्रकाश प्रकट नहीं होता। रागभरी बातें सुनने को बहुत मिलें और उनमें रुचि करें, बड़े धीरे से बोली हुई बात भी खूब ध्यान से सुन लें तब वे वास्तव में श्रोता सही नहीं हैं। जो पुरुष भगवत्वाणी ज्ञानमयी चर्चा जो आत्मा को आत्मा के निकट ले जाने में प्रेरक हो वह चर्चा न सुनें, उसमें रुचि न जगे तो वे पुरुष बहरे ही हैं। और, ऐसे बहरे पुरुष लाखों भी साथ रहें तो रहे आयें, भले ही लोकव्यवहार की बात धनिक सुन लेवें, किन्तु जो हित की बात है उसके सुनने में तो अभी बहरे हैं और दूसरे के अन्त: की सही बात को कोई सुनने वाले नहीं हैं। दूसरे के स्वरूप की बात कानों से नहीं सुनी जाती, वह भी ज्ञानकर्ण से सुनी जाती हैं। एक विवेक से, भेदविज्ञान से दूसरे के स्वरूप की चर्चा समझ में आती है, तो वही पुरुष वास्तव में सुनने वाले हैं जो सत्पुरुषों की वाणी और वस्तु के स्वरूप की चर्चा सुनने में रुचि रखते हैं और वे ही पुरुष वास्तव में सूझता है जिनमें अपने आपके ज्ञानस्वरूप का शुद्ध प्रकाश जगा हुआ है, ये सब बातें प्रकट होती हैं वृद्ध पुरुषों की सेवा से। सत्पुरुषों की वाणी मनुष्य के हृदयनेत्र को

खोल देती है। अन्य पुरुषों की वाणी जैसे घर में पुत्र, स्त्री वगैरह की, दूकान में ग्राहकों की वाणी अथवा अन्य व्यापारियों की वाणी आपके हृदयनेत्र को खोलती है या पर्यायबुद्धि पोजीशन आदिक खोटी भावनाओं को प्रकट करती है? अनुभव कर लीजिए। जिन पुरुषों ने सत्संग में अपनी रुचि बढ़ाया है, संत पुरुषों के गुणों पर दृष्टि दी है वे पुरुष उन्हीं गुणों की वृद्धि को प्राप्त होते हैं। वृद्धों की सेवा में स्वयं भी वृद्ध हो जाते हैं। वृद्ध के मायने बूढ़ा नहीं किन्तु वर्द्धमान। जो अपने गुणों में बढने वाले हैं उनकी संगति से संगति करने वाले पुरुष भी वर्द्धमान बन जाते हैं अर्थात् अपने गुणों में बढ़े चढ़े हो जाते हैं। तो सूझते तब कहला सकते जब हम अपने आपके स्वरूप का प्रकाश भी पाते रहें।

मोहान्धता मिटाकर सत्यद्रष्टा होने में कल्याण- देखिये- सूझते में होता क्या है? अहित से बचना और हित में लगना। नेत्रों से जो कुछ हम देखते हैं उस देखने का प्रयोजन क्या है? हित में लगें अहित से बचें। जैसे कोई पुरुष आँखों से देखते हुए भी कुवें में गिर पड़े तो उसे लोग यह कहते हैं कि तू क्या अंध हो गया था? क्या अंध हो रहा है? अर्थात् जो अहित में लगे उसे लोग अंध कहा करते हैं। तो सूझने वाले पुरुष वही हैं जो अहित से दूर होते हैं और हित में लगते हैं। यह बात सम्भव है अपने आत्मा में स्वरूप का शुद्ध प्रकाश पाने से। अब तक यह जीव मोह में अंध रहकर अपने स्वरूप का विचार न करके अनेक विषयों में लगा रहा, परन्तु सुख रंच भी नहीं प्राप्त कर सका। तृष्णा ही बढ़ाया, कहाँ सुख मिला? जब यह दृष्टि बने कि मैं स्वयं सुखस्वरूप हूँ और मुझे सुख पाने के लिए अन्यत्र कहीं कुछ काम नहीं करना है, लो यहाँ बैठे हुए ही यह स्वयं ही सुखमय है। आत्मा में दु:ख का स्वभाव ही कहाँ है? आत्मा स्वयं ज्ञानानन्दस्वरूप है, यह बात जब प्रतीति में जगे और इस प्रतीति के कारण बाह्यपदार्थों में कुछ करने की बुद्धि न बने, दुर्बुद्धि न बने, तो इसे सुख प्राप्त हो सकता है, लेकिन मोहवश मृगमारीच की तरह विषयों में सुख की कल्पना किए हुए है। ये जगत में जो प्राणी दिखते हैं इन प्राणियों को देखकर यह भी सही है अपने आपको देखकर मैं भी सही हूँ ऐसी जब मिथ्या प्रतीति करता है तो जन्म मरण के चक्र में रहने वाला, विपदा में पड़ा हुआ, लोक में यह अपनी पोजीशन बनाने की चाह रखता है, ये लोग मुझे कुछ समझ जायें। अरे ये लोग भी मायारूप हैं और जिसे कहता है कि मुझे समझ जायें वह भी मायारूप है। परमार्थ का परमार्थ से कोई नाता सम्बन्ध नहीं लगाया जा रहा है, किन्तु माया की माया से ही पहिचान हो रही है। मेरे पहिचानने वाला दूसरा है कौन? यह सभी की बात कह रहे हैं। अपने आपको ऐसा विचार करें कि मेरे पहिचानने वाला इस जगत में दूसरा है कौन? यदि कोई मुझे पहिचान जाय तो उसकी भली बुरी दृष्टि ही नहीं हो सकती। उसके लिए फिर मैं व्यक्ति ही नहीं रहा, उसके लिए तो मैं एक ब्रह्म हो गया। ज्ञानब्रह्म से व्यवहार क्या? और, जो मेरे साथ व्यवहार

करता, रागद्वेष करता, वचनालाप करता, परिणति करता ऐसी स्थिति में पड़ा हुआ पुरुष मुझे पहिचान नहीं रहा है तो मेरा जब यहाँ पहिचानहार भी नहीं है तो फिर उसका नाता कहाँ है? यहाँ तो माया की माया से पहिचान हो रही है। जिस समागम को जिस वैभव को देख-देखकर हम रीझ जाते है, जिस देह को देख-देखकर हम आसक्त हुआ करते हैं यह क्या चीज है? इसका कुछ अस्तित्व भी है क्या? यह कितनी देर के लिए है, यह कोई सारभूत भी है क्या? यह तो पानी के बबूले की तरह है। ये सारे जगत के समागम अत्यन्त असार हैं। जब तक जीवन है, जब तक मोह की दृष्टि लगी है, जब तक मोह की नींद आ रही है तब तक ये मोह के स्वप्ने सब सही मालूम हो रहे है। पर सही है कुछ नहीं। सब असार है। सार तो तब माना जाय जब वहाँ सन्तोष हो और आनन्द की झलक हो। लौकिक वैभव की प्राप्ति से किसी को सन्तोष हो सकता है क्या?

परिग्रह का परिमाण अथवा त्याग किये बिना सन्तोष का अलाभ- यहाँ सन्तोष हो सकता है सच्चे श्रावक को। जिसने परिग्रह का अन्तरङ्ग से परिमाण कर लिया है। परिग्रह परिमाण से उसका हृदय विभूति के प्रति कभी मलिन नहीं होता और किसी की बड़ी विभूति को निरखकर उसके आश्चर्य नहीं होता। उस सच्चे श्रावक के पास जो भी वैभव है उसी को आवश्यकता से अधिक समझकर सन्तोष कर लेता है। जिस मनुष्य ने परिग्रह का परिमाण नहीं किया, उसके तो वैभव के प्रति ऐसी तृष्णा लग जाती है कि वह उस वैभव के पीछे विह्वल रहता है, सुख से वह नहीं रह सकता। जिस अज्ञानी मनुष्य के तृष्णा घर कर गई है वह निरन्तर बेचैन बना रहा करता है। अगर वैभव कुछ पास में है तो चोर, डाकू, बदमाश, रिश्तेदार, सरकार सभी सताते हैं। जिसके पास पर्याप्त मात्रा में वैभव है फिर भी उस वैभव के प्रति तृष्णा जगी है तो वह वैभव तो उसके लिए दु:ख का कारण है, क्योंकि उस वैभव के कारण और भी वैभव पाने की आशा लगी है। अरे भाई जैनशासन में यह बताया है कि आत्मा का धन तो ज्ञान और आनन्द है। उसकी वृद्धि का प्रयत्न करें। यहाँ के ये लौकिक वैभव तो आज हैं कहो कल न रहें और जब तक हैं तब तक भी अत्यन्त जुदे हैं, उनसे न कुछ सुख की किरण आती है, न ज्ञान की किरण आती है। यह आत्मा खुद परपदार्थों को विषय बनाकर अपने आपमें कल्पनाएँ गढ़ता है और कल्पनाओं से अपने को सुखी मानता है। अरे ज्ञानानन्द स्वरूप को निरखें और इसकी दृष्टि का ही अधिकाधिक यत्न करें, यह जैनशासन का सुगम सीधा उपदेश है। रही गुजारे की बात। धर्म दो प्रकार के होते है गृहस्थधर्म और साधुधर्म। साधुधर्म में तो चूँकि साधु अनासक्त है, अतएव भिक्षावृत्ति का उपदेश किया है ताकि वे निश्चिन्त होकर आत्मध्यान के पात्र रह सकें। और गृहस्थों को उपदेश दिया है कि तुम पुरुषार्थ करो आजीविका चलाने का, किन्तु साधारणरूप से पुरुषार्थ करो। भाग्यवश जो कुछ भी प्राप्त हो

जाय उसमें ही गुजारा कर सकने का साहस बनायें। आजीविका, धर्मपालन, दान, परोपकार आदिक के विभाग बनाकर उसी में गुजारा चलायें। अपना दृढ़ संकल्प रखें धर्मपालन का।

दृष्टि की समीचीनता में ही वास्तविक अमीरी- देखिये कोई मनुष्य गृहस्थ ही हो और धन से उसकी कोई अच्छी स्थिति न हो और ज्ञान ध्यान में चित्त अधिक लगता हो, सत्पुरुषों ने क्या-क्या उपदेश दिया है उन सब उपदेशों में, उन सबके ज्ञान में जिनकी अधिक रुचि बढ़ी हुई हो, जो अपने को वृद्ध करके सन्तुष्ट रहा करते है उनका जीवन कहाँ दु:खी है? उनका जीवन तो प्रसन्न है। न हो कुछ भी धन वैभव तो न सही लेकिन ऋषि संतों द्वारा अपने जीवन भर के उग्र साधना द्वारा किए गये अनुभव जो लिखे गए हैं उनका जिन्होंने परिज्ञान किया हो वे तो स्वयं सन्तुष्ट हैं, अमीर हैं। सच पूछो तो जिनकी दृष्टि सम्यक् बन गयी है, इस आत्मतत्त्व की ओर जिनकी रुचि जगी है वे ही पुरुष अमीर हैं और जिनकी दृष्टि बाह्यपदार्थों की ओर लगी हो वे पुरुष गरीब हैं। एक कथानक है कि किसी फकीर को एक पैसा कहीं पड़ा हुआ मिल गया। सोचा कि इसे ऐसे व्यक्ति को दूँगा जो दुनिया में सबसे गरीब हो। उसने सबसे गरीब व्यक्ति ढूँढ़ा पर कोई न मिला। देखा कि एक राजा हाथी पर बैठा हुआ किसी राजा पर चढाई करने जा रहा है, सोचा कि यह है सबसे गरीब, सो उसके ऊपर वह पैसा फेंक दिया। राजा कहता है कि तुमने यह पैसा मुझे क्यों दिया? फकीर बोला- राजन् यह पैसा मुझे पड़ा हुआ मिला था, मैंने सोचा था कि यह पैसा मैं ऐसे व्यक्ति को दूँगा जो दुनिया में सबसे गरीब हो। सो दुनिया में सबसे गरीब मुझे आप ही दिखे। राजा बोला- मैं गरीब कैसे? तो फकीर ने कहा- अगर आप गरीब न होते तो दूसरे का धन हड़पने के लिए क्यों जाते। राजा को बोध हुआ और वही से लौट गया। तो जो इच्छा रहित मनुष्य है वही सुखी है। दुनिया चाहे मुझे कुछ भी कहे पर मेरा भवतव्य दुनिया के अधीन तो नहीं है। मेरा भवतव्य तो मेरे ही ज्ञान के अधीन है। सो अपने आपके ज्ञान में रहकर प्रसन्न रहा करें इससे ही इस दुर्लभ मानवजीवन की सफलता है।

श्लोक- 779

सत्संसर्गसुधास्यन्दै: पुंसां हृदि पवित्रिते।
ज्ञानलक्ष्मी: पदं धत्ते विवेकमुदिता सती।।

सत्सङ्गसुधापूत हृदय में ज्ञानलक्ष्मी का वास- सत्पुरुषों के संसर्गरूपी अमृत के झरने से जब मनुष्यों का हृदय पवित्र हो जाता है तो उस हृदय में उस मनुष्य में विवेक से मुदित हुई यह सम्यग्ज्ञान लक्ष्मी अपना निवास करती है। ज्ञान का स्वच्छ बना रहना यही है सबसे अपूर्व लौकिक सम्पत्ति। बाह्य में जड़ पौद्गलिक पिण्डों का कितना भी ढेर लग जाय अथवा जहाँ ढेर लगा है वहाँ निकट यह स्वयं पहुँच जाय तो इतने सम्बन्ध मात्र से निकटवर्ती होने से आत्मा को शान्ति कहाँ से प्राप्त होती है? शान्ति तो सम्यग्ज्ञान के साथ अविनाभाव रखती है, सम्यग्ज्ञान हो तो शान्ति मिलती है यह बात पूर्ण निश्चित है, अतएव जो शान्ति के अभिलाषी है उन्हें अपना हृदय बदल लेना चाहिए। पूर्व समय से चला आया हुआ मिथ्या निर्णय बदल लेना चाहिए। अपने आपमें शान्ति अपनी ही स्वच्छता के कारण प्रकट होगी, अन्य पदार्थों से शान्ति प्राप्त नहीं होती। लोग लक्ष्मी श्रीविभूति आदि नाम कहकर धन दौलत की लक्ष्मी की उपासना करते हैं, किन्तु यह मालूम होना चाहिए कि जिन शब्दों को बोलकर हम लक्ष्मी की उपासना करना चाहते हैं वे समस्त शब्द आत्मा के ज्ञानस्वभाव के पर्यायवाची नाम हैं। जैसे श्री शब्द है। श्री का अर्थ है जो तादात्म्यरूप से आश्रय करे वह है ज्ञानस्वभाव। मेरे में मेरे अभेदरूप से आश्रय करने वाला भाव कौन है? ज्ञानभाव। तो ज्ञान का ही नाम श्री है। इसको दूसरे शब्दों में लक्ष्मी कहते हैं। लक्ष्मी का अर्थ क्या है? जो लक्षण का अर्थ है वही लक्ष्मी का अर्थ है। जो लक्षण हो उसका नाम है लक्ष्मी। चाहे लक्षण कहो, चाहे लक्ष्मी कहो, चाहे लक्ष्य कहो, सब एक शब्द हैं। तो मेरा जो लक्षण हो वही मेरी लक्ष्मी है। मेरा लक्षण है ज्ञानभाव, चैतन्य स्वभाव, उसका नाम लक्ष्मी है।

नाना उपासनाओं में ज्ञानलक्ष्मी की उपासना का संकेत- लोग लक्ष्मी कहकर किसी और की उपासना करते हैं। लेकिन शब्द लक्ष्मी एक ज्ञान का पर्यायवाची है। लोग विभूति शब्द कहकर लक्ष्मी धन दौलत की तारीफ किया करते हैं पर विभूति शब्द का क्या अर्थ है? विशेष रूप से जो हो उसका नाम विभूति है। मुझमें विशेष रूप से होने वाली बात कौन है, जो सदैव रहे, जो अपने गाँठ की बात हो? जो सहज अपने स्वरूप की बात हो, परकृत न हो, औपाधिक न हो, ऐसी कौनसी विभूति है? वह है ज्ञानपरिणति। तो सब एक इस ज्ञान के ही नाम है जिस नाम को लेकर लोग जड़ पौद्गलिक पदार्थों की उपासना किया करते हैं और इतना ही नहीं किन्तु जिन देवी देवताओं के नाम लेकर हम किसी और प्रकार के जीवों की उपासना करते हैं उन देवी देवताओं के नाम भी यहाँ बतलाते हैं कि ज्ञानानुभूति के नाम हैं। देवी को प्रणाम हो। वह देवी कौन है? ज्ञानानुभूति। अपने ही ज्ञान का अनुभव बने, स्वयं ज्ञान ज्ञान को जाने ऐसी जो स्थिति है उसका नाम देवी है। कितने ही नाम लेते जाइये दुर्गा, चण्डी, मुण्डी, काली, चन्द्रघंटा, सरस्वती आदि ये सब ज्ञानानुभूति के नाम हैं। दुर्गा का अर्थ है- दु:खेन गम्यते प्राप्यते या सा दुर्गा- जो बड़ी कठिनाई से प्राप्त हो, जो दुर्लभता से

जानी जाय उसका नाम दुर्गा है। वह दुर्गा कौन है, जो बड़ी कठिनाई से प्राप्त होती है? वह है अपने आपके ज्ञानस्वरूप की अनुभूति। कितनी खुद के अन्तरङ्गमें निकट की बात है और इन जड़ पौद्गलिक विषयों में मुग्ध होकर इतनी कठिन बात बन गई है। चण्डी नाम किसका है- जो रागादिक शत्रुवों का खण्डन कर दे उसका नाम चण्डी, कलयति प्रेरयति स्वहिते इति काली- जो हित की कल्याण की प्रेरणा करे उसका नाम है काली। चन्द्रघंटा- जो अमृत झराने में चन्द्र से ईर्ष्या रखती हो उसका नाम है चन्द्रघंटा। तो कितने ही नाम लेते जाइये, ये सब इस आत्मानुभूति के पर्यायवाची शब्द हैं। सरस्वती- जिसका बहुत बड़ा फैलाव हो उसका नाम है सरस्वती। दृष्टि विशुद्ध करके निरखो तो कि सबसे बड़ा फैलाव किसका होता है? सबसे बड़ा फैलाव है ज्ञान का। तो इस ज्ञान के अनुभव का नाम है सरस्वती।

ज्ञान की सूक्ष्मता और व्यापकता- यह ज्ञान अति सूक्ष्म है अतएव ज्ञानमय होकर भी आत्मा के द्वारा यह ज्ञान जाना नहीं जा रहा है। सबसे अधिक सूक्ष्म है अतएव यह सबसे अधिक व्यापक है। जो चीज जितनी अधिक पतली हो वह उतनी ही अधिक व्यापक होती है। जैसे मान लो कि यह पृथ्वी एक बहुत मोटी वस्तु है, और इस पृथ्वी के मुकाबले में जल पतला है, इस बात को हर एक कोई जानता है। आजकल के वैज्ञानिक भौगोलिक लोग भी यही कहते हैं कि समुद्र का घेर ज्यादा है पृथ्वी का घेर कम है। लेकिन सिद्धान्त भी यही बता रहा है कि जम्बूद्वीप...अखण्ड समस्त द्वीप का जितना विस्तार है उससे कई गुना अधिक विस्तार जल क्षेत्र का है। प्रथम तो जम्बूद्वीप के आगे दूना समुद्र हैं, फिर असंख्याते द्वीप समुद्र जितना विस्तार रखते हैं उससे भी कुछ अधिक विस्तार स्वयंभूरमण समुद्र का है। तब जल ज्यादा हुआ ना? पृथ्वी से जल पतला है इसलिए जल का व्याप्य क्षेत्र अधिक हो गया, और, जल से पतली है हवा तो जल से अधिक क्षेत्र में हवा है। आजकल भौगोलिक विज्ञानी भी इस बात को कहेंगे और सिद्धान्त भी कहता है कि जहाँ पृथ्वी नहीं, जहाँ जल नहीं वहाँ भी हवा है। तो हवा व्यापक है। और, ये सब चीजें जल भी, पृथ्वी भी इन सबका जो समूह है उसका नाम है लोक। उससे आगे भी आकाश है। तो आकाश हवा से भी पतला है ना, तो वह इन सबसे अधिक व्यापक है, किन्तु एक बात और जानो कि इस आकाश से भी व्यापक वह ज्ञान है जिस ज्ञान ने पृथ्वी को जाना, जल को जाना, लोकालोक के समस्त आकाश को जाना और फिर वह भी उस ज्ञान में ऐसा स्वभाव है कि ऐसे-ऐसे अनेक लोक अलोक हों तो उन सबको भी यह ज्ञान जान लेता है। तो सबसे महान फैलाव है ज्ञान का। और, अधिक फैलाव वाली देवी का नाम है सरस्वती। अपने ही आत्मा में जो ज्ञानानुभूति होती है, संकल्प विकार हटकर जो अन्तरङ्ग में एक शुद्ध ज्ञानमात्र ज्ञानज्योति का अनुभव होता है उस स्थिति का नाम है सरस्वती। जरा शब्द का मर्म तो पहिचानो।

ज्ञानलक्ष्मी के अनेक परिस्थितियों में व्यक्त अनेक रूप- ऐसा भी लोग कहते हैं कि वह एक ही देवी है तभी तो सरस्वती का रूप रखती है और कभी प्रचण्ड क्रोधमय एक काली का रूप रखती है, जैसे प्रसिद्ध भी है यह बात कि कभी तो अनेक नरमुण्डों की माला पहिने खप्पर हाथ में लिए भुजावों में हथियार लटकाये हुए उसका स्वरूप माना है तो कभी किसी पर्व में किसी दिनों में शान्तमुद्रा में हंस भी पास में बैठा है, बड़े-बड़े ऋषिजन जिसकी उपासना कर रहे हैं, ऐसी मुद्रा में उस सरस्वती देवी का स्वरूप माना है। तो वह सरस्वती कोई एक हो और समय-समय पर विलक्षण विभिन्न विपरीत नानारूप रखा करे ऐसा कौन है? वह है यह खुद की अनुभूति। यह अनुभूति जब मोह में, विकार में बढ़ जाती है तो बड़ा प्रचण्ड क्रोधरूप अपना रख लेती है। सारे विश्व का विनाश करे ऐसी फैली हुई अनुभूति होती है और यह अनुभूति जब कषायें मंद होती हैं, ज्ञानविकास बनता है तो शान्तमुद्रा में पर के विकल्प दूर करके एक निज तत्त्व का ग्रहण करता रहता है। ऐसी ही होती है सरस्वती की मुद्रा। सब कुछ अपने अन्दर में निरखिये। सबका अर्थ अपने अन्दर में घटाते जाइये तब तो होगी काम की बात और बाहर बाहर ही हम सब पदार्थों को निरखने का यत्न करें तो यह होगी उलझन की बात। भगवान एक भी अपने आत्मा में प्रयोग करें तो अपने शुद्ध स्वरूप को देखेंगे। वे भी बाहर में कहीं नहीं देखते। कल्पना से कुछ भी देख लेवें, जिसको जिस बात की धुन लगी है उसको वह मुद्रा आकाश में भी दिख जाती है। जैसे किसी गृहस्थ को किसी भाई से अत्यन्त अधिक मोह हो और वह गुजर जाय, जल गया, अब कुछ नहीं रहा, लेकिन उसकी धुन उसके प्रति ऐसी लगी है कि उसे जब चाहे तब ही उसकी सकल कल्पना में दिख जाती है। ऐसे ही भगवान के बारे में बाहर में उस रूप हम कल्पनाएँ बनाते हैं तो वह धुन बन जाने से हमें यों लगता है कि आज तो भगवान ने हमें छत पर दर्शन दिया। अरे भगवान के दर्शन किसी बाहरी जगह में न होंगे और कदाचित् साक्षात् भगवान भी सामने हों जैसे समवशरण में प्रभु विराज रहे हैं वहाँ पर भी भगवान के दर्शन इन चमड़े की आँखों से न हो जायेंगे। वहाँ भी ज्ञान से ही उस अनन्त चतुष्टयात्मक चैतन्यस्वरूप के दर्शन होते हैं।

सत्संग के फल में ज्ञानप्रकाश का अनुपम लाभ- यह ज्ञानप्रकाश सत्पुरुषों के संग का ही फल है। कुछ जब स्वाध्याय करते हैं, सत्पुरुषों की वाणी मन में समझते हैं वहाँ भी सच समझिये कि उत्तम सत्संग किया जा रहा है। तो सज्जन पुरुषों के संसर्गरूपी अमृत के झरने से जब पुरुषों का हृदय पवित्र होता है तब उस हृदय में उस ज्ञानलक्ष्मी निवास करती है। शरण हम आप सबका यह सम्यग्ज्ञान ही है, खूब निरख लो, परख लो, किसी भी स्थिति में जब भी आप सुखी होते हैं तो ज्ञान का प्रसाद मिलता है स्वयं का, उस प्रसाद से सुखी होते हैं। उस ज्ञानलाभ के लिए जितना सुगम सीधा उपाय एक सत्संगति का है उतना सीधा सरल उपाय अन्य कुछ न मिलेगा। ऐसा

जानकर हम आपको वृद्धसेवा के लिए उत्साह बनाना चाहिए। बड़ों की सेवा करें। जो तप, व्रत, ज्ञान, संयम, नियम, उदारता इन समस्त गुणों में बढ़े हों ऐसे महान पुरुषों के सत्संग से स्वयं बहुत से विकार दूर होते हैं। बहुत सी भूलें नष्ट होती हैं। अपने कर्तव्य का भान जल्दी हो जाता है, तो अपने कल्याण के लिए सत्संग करने का हमारा ध्यान निर्णीत बना रहना चाहिए।

श्लोक- 780

वृद्धोपदेशघर्मांशुं प्राप्य चित्तकुशेशयम्।
न प्राबोधि कथं तत्र संयमश्री: स्थितिं दधे।।

वृद्धोपदेशकिरणसेवित हृदय में संयमश्री का निवास- मनुष्यों का चित्तरूपी कमल यदि वृद्ध पुरुषों के उपदेशरूपी सूर्य के निकट हो जाये, उसे प्राप्त कर ले तो उसमें सयंमरूपी लक्ष्मी क्यों न निवास करेगी? जैसे कमल दिन में प्रफुल्लित हो जाते हैं, सूर्य की किरणों का संसर्ग पाकर कमल शोभा को प्राप्त होता है इसी प्रकार मनुष्यों का चित्त भी यदि वृद्धजनों का उपदेश प्राप्त कर ले तो उनका चित्त भी विकसित हो जाता है। ज्ञान का विकास है संयम। तो संयमरूपी लक्ष्मी का वहाँ निवास हो जाता है। जब चित्त में संतजनों के वचन रहते हैं तब ही संयम दृढ़ रह सकता है अन्यथा यह जीव स्वभावत: कुछ विषयकषायों की ओर झुका ही रहता है, पतन की ओर ही इसका चित्त चलता है। सत्पुरुषों का संग रहे, उनकी वाणी सुनने को मिलती रहे तो यह चित्तरूपी हस्ती स्वच्छन्दता से निवृत्त हो जाता है, फिर श्रोता ध्याता इस चित्त को वश कर ले और उसमें विवेक का साम्राज्य बन जाता है, सत्संगति की महिमा का कौन वर्णन कर सकता है। यह बहुत ही सौभाग्य की बात होती है, जब संसार, शरीर, भोगों से विरक्त ज्ञानब्रह्म में मग्न होने के उत्सुक जो संसार से निकट काल में मुक्त हो जायेंगे, कुछ भी भव पाकर मुक्त हो जायेंगे ऐसे ज्ञानपुञ्ज महान आत्मावों का संसर्ग कितना महत्त्व रखता है, उस महत्त्व का वर्णन करने की सामर्थ्य किसी में नहीं है। जो भी तिरे हैं वे किसी न किसी संत पुरुष का उपदेश पाकर तिरे हैं। किसी को चाहे पूर्वभव में उपदेश मिला हो उसका ही संस्कार पाकर इस भव में बिना उपदेश पाये भी तिर जाय। लेकिन देशनालब्धि तो सबको हुई है। तो उपदेश, सन्तपुरुषों की वाणी समागम ये भव-भव के पाप कलंकों को भी दूर कर देते हैं। इसकी एक धुनि होनी चाहिए।

आत्मरक्षा के पौरुष की महनीयता- भैया ! आत्मरक्षा से बढ़कर और पुरुषार्थ क्या हो सकता है? हम अन्य पदार्थों की रक्षा की तो धुन बनायें और आप पर करुणा करें तो क्या यह कोई विवेक की बात है? जिस प्रकार जिस कल्याणवाञ्छा की दृष्टि से कल्याण प्राप्त करने की भावना से सत्पुरुषों के उपदेश सुने जाना चाहिए। ग्रन्थों में निबद्ध सत्पुरुषों की वाणी हमें अपने हित की भावना से सुनना तथा पढ़ना चाहिए। हम अपने अन्दर के रास्ते को खोल तो दें उस वाणी को अपने अन्दर प्रवेश करने के लिए। ये क्रोध, मान, माया, लोभ, तृष्णा आदि के पत्थर जो अटक रखते हैं उन पत्थरों को हटाकर रास्ता साफ तो कर लें। लोक में तो जो किसी को विषयकषायों में लगा दे उसे मित्र कहते हैं, पर मित्र वास्तव में वह है जो विषयकषायों से दूर करे। जैसे माता अपने बच्चे का मुँह फाड़कर रोगनाशक औषधि देती है ऐसे ही कदाचित् कुछ बात कष्टकर भी मालूम पड़े पर विषयकषायों से हटाने वाले उपदेश ज्ञानी सन्तपुरुषों के होते हैं। वे सन्तजन ही हैं अपने सही मित्र। जो विपदा से बचाये उसे मित्र कहते हैं। ये सांसारिक समागम तो सभी विपदारूप है, सबके पास सब कुछ है अपने खाने पीने के लायक, आराम के साधन भी हैं, लेकिन कौन ऐसा मानता है कि जो कुछ भी मुझे मिला है वह जरूरत से कई गुना अधिक है? इतने की जरूरत न थी लेकिन मिल गया है ऐसा कौन अपने को मानता है? सबके पास जरूरत से ज्यादा वैभव मिला है इसका निर्णय करना हो तो बड़े शान्त हृदय से निरख लीजिए। जिनके पास आपसे 8 वाँ हिस्सा वैभव कम है उनका भी गुजारा होता है कि नहीं? और कहो वे आपसे भी अधिक स्वस्थ हों, कहो आपसे भी अधिक निद्रा उन्हें आती हो। तो उनका कैसे गुजारा चल रहा है, और, और तरह से भी इसका निर्णय कर लो। तो जिसे जो कुछ मिला है समझ लो जरूरत से ज्यादा है। ऐसा क्यों समझ लें? इसलिए कि इस तृष्णा डाइन से अपना पिण्ड छुड़ा सकें, और अपना जो मुख्य लक्ष्य धर्मपालन का है, कर्मबन्धन से छुटकारा पाने का है उसमें लग सकें। मेरा केवल मेरे आत्मा से ही प्रयोजन है। जो भी पदार्थ है उनका स्वभाव है कि वे सदैव परिणमते रहते हैं। हमारा तो परिणमन करना काम है सो कर रहे हैं। हमारे परिणमन के लिए किसी अन्य पदार्थ की जरूरत नहीं है, बल्कि अन्य पदार्थों की अपेक्षा न रहे, उनका सम्बन्ध न रहे तो हमारी परिणति ऐसी बनेगी कि जिस परिणति को ही लक्ष्य करके सभी मनुष्य पूजते हैं।

सकल जीवों में अन्त:प्रकाशमान सहज परमात्मतत्त्व की उपलब्धि के निमित्तभूत वृद्धसेवा की उपास्यता- जिसमें देव माना है जिस किसी भी मजहब वालों ने उन सबकी मूल में आदि में सर्वप्रथम वह बात थी कि जो निरपेक्ष है, अपने स्वरूपमात्र है, जिसका विलास अत्यन्त विकसित हुआ है ऐसा कोई भगवान, लेकिन जब भगवान के स्वरूप का परिचय नहीं रहा तो किसी ने कुछ बताया, किसी ने कुछ। तो जब बहुत दिन गुजर जाते हैं एक परिचय बिना तो बात होती है कुछ

और फैल जाती है कुछ। यही बात प्रभुस्वरूप के बारे में हो गयी है, अपरिचय का बहुत सा काल व्यतीत हो गया तो धीरे-धीरे कुछ से कुछ होते होते आज बड़ी विभिन्नरूपता आ गयी और जो ज्ञान भगवान में सम्भव भी न हो सके ऐसी तक भी बात लोगों के चित्त में समा गई है, पर भगवान का जो शुद्ध रूप है वह सब रूप हम आपमें समाया हुआ है, देखने की विधि चाहिए। जैसे कोई एक सेर दूध रखा है तो बतावो उसमें घी है कि नहीं है, पर उसका पारखी ही समझ सकता है कि इसमें इतना घी है। घी आँखों तो नहीं दिखता, पर पारखी लोगों को तो पता रहता है कि इस इतने दूध के अन्दर इतना घी मौजूद है। ऐसे ही हम आप सबमें परमात्मतत्त्व बसा है किन्तु परखने वाले ही उसे जान सकते हैं। ये सब बोध हमें सत्पुरुषों के सङ्ग से प्राप्त होते हैं, इस कारण सत्सङ्ग के लिए, वृद्धसेवा के लिये हमारा बहुत-बहुत यत्न होना चाहिए।

श्लोक- 781

अनुपास्यैव यो वृद्धमण्डलीं मन्दविक्रमः।
जगतत्त्वस्थितिं वेत्ति स मिमीते नभः करैः।।

वृद्धमण्डली की उपासना के बिना तत्त्ववेदन की असंभवता- कोई मनुष्य अल्पशक्ति वाला है और सत्पुरुषों की मण्डली में रहे बिना ही, सत्संगति की उपासना किए बिना ही यदि वह जगत के तत्त्वस्वरूप को जानना चाहता है तो वह मानो हाथों से आकाश को मापना चाहता है। जैसे- हाथों से कोई आकाश को माप सकता है क्या? अरे हाथों की बात तो दूर रहो उसका हिसाब तो योजनों से भी नहीं है। अनन्त योजन आकाश है। अथवा माप ही क्या आकाश का तो क्या कहीं अन्त भी नहीं है ऐसे अनन्त आकाश को कोई हाथों से मापना चाहे तो असम्भव बात है। इसी प्रकार सत्पुरुषों की मण्डली की उपासना किए बिना ही कोई अल्पशक्ति वाला पुरुष तत्त्वस्वरूप को जानना चाहे और उस मार्ग में लगना चाहे तो वह असम्भव बात है। सत्पुरुषों की सेवा के बिना अल्पशक्ति वाले पुरुष को जगत की रीतिनीति का भी ज्ञान नहीं हो सकता है। लौकिक कलाकारों में भी देखा होगा जिस परम्परा में जिस कुल में परम्पर्या बात चली आयी है किसी कला की, मान लो काष्ठकला की या स्वर्णकला की अथवा संगीतकला की तो उस कुल में उत्पन्न हुए मनुष्यों की वह कला बड़ी सुगमतया से अभ्यस्त हो जाती है। क्या किसी विद्यार्थी को ऐसा भी देखा है कि सत्संगति के बिना, गुरुवों की सेवा के बिना, गुरुवों के उपदेश शिक्षा पाये बिना स्वयं ही निपुण बन गया हो?

ऐसा यदि कोई हो सकता है तो बिना सीखे ही विद्या का अधिपति हो जाय तो हो जाय, मगर स्वयं ही सीख कर विद्या का अधिपति नहीं बन पाता है। तीर्थंकर जैसे महापुरुष बिना सीखाये ही ज्ञाता बन जाते है वह तो अलग बात है किन्तु किसी आधार के बिना स्वयं ही सीखकर कला का अधिपति बने यह बात कठिन है, फिर अध्यात्म की बात तो सत्संगति से इतना सम्बद्ध है कि कोई मंद बुद्धि वाला पुरुष अभिमान में आकर थोड़ा सा ज्ञान पाकर यह हठ करे, अभिमान न करे कि मैं तो स्वयं ही अपने बल पर कल्याण कर लूँगा। ज्ञान क्या करें? कुछ चारित्र भी तो चाहिए, संयम की प्रेरणा भी तो चाहिए। वह बात सत्संग से स्वयं सिद्ध होती है।

वृद्धसेवा से अनूठे अनुभवों की प्राप्ति- वृद्धसेवा का बड़ा महत्त्व है। जो जिस कार्य में अनुभवी है उस अनुभवी मनुष्य की संगति से उस कार्य की निपुणता प्राप्त हो सकती है। केवल शब्दों की जानकारी कर लेने मात्र से अथवा कुछ साहित्यकला याद कर लेने मात्र से तत्त्व का मर्म नहीं पाया जा सकता है । कोई एक सेठ था, उसने एक जगह धन गड़ा दिया और बहियों में लिख दिया कि ऐ पुत्रों ! तुम्हें कभी कठिन गरीबी आ जाय तो मंदिर की सिखर में बहुत धन गड़ा है उसे तुम माह सुदी पूर्णिमा के दिन 4 बजे शाम को निकाल लेना। सेठ तो गुजर गया। लड़के गरीब हो गए। वह बही उनके हाथ लगी। सोचा कि माह सुदी पूर्णिमा को 4 बजे शाम को इस सिखर में से धन निकालेंगे। वह चढ़ गया मंदिर पर उसी दिन पौने 4 बजे के करीब में और सिखर तोड़ने लगा तो नीचे से कोई बुजुर्ग जा रहा था। उसने पूछा- भाई तुम क्या कर रहे हो? बोला- इसमें पिताजी ने लिख दिया है कि माह सुदी पूर्णिमा को 4 बजे दिन को इस सिखर से धन निकाल लेना, सो मैं धन निकालने आया हूँ। वह वृद्ध पुरुष समझ गया, कहता है अरे मूर्ख नीचे उतर, हम तुझे बतावेंगे कि वह धन कहाँ है? वह नीचे उतरा तो वह बूढ़ा उसे उसके ही घर ले गया और जहाँ पर उस सिखर की छाया पड़ रही थी उस जगह खोदकर धन निकालने को कहा। जब उस जगह उसने खोदा तो वह धन निकला। तो देखो उन शब्दों को ही समझकर उन लड़कों ने अर्थ लगाया था, उनकी समझ गलत थी क्या? जैसा शब्दों में अर्थ लिखा हुआ था उसी के अनुसार ही तो काम कर रहे थे। कोई गलती तो नहीं की थी, पर उनके अनुभव न था। वे इस बात को न सोच सके कि यदि सिखर में धन होता तो यह समय क्यों निश्चित करते धन निकालने के लिए? वह तो किसी भी दिन किसी भी समय खोदा जा सकता था। लेकिन वह वृद्ध पुरुष अपने अनुभव से झट समझ गया। तो वृद्ध पुरुषों के सेवा बिना ये बातें प्राप्त नहीं होती।

वृद्ध सेवा में वृद्धों के अनुभव से लाभ उठाने का अनुरोध- एक कथानक है कि कोई एक बारात कहीं से आनी थी। तो लड़की वालों ने कहला भेजा कि हमारे यहाँ बारात में सारे जवान

लोग आयेंगे, कोई बूढ़ा न आयगा। इस बात पर बुजुर्गों ने सोचा कि हम लोगों को बारात में जाने के लिए क्यों मना किया गया है? न ज्यादा खाते, न किसी को सताते, न हमारे ज्यादा इच्छायें पर हमें क्यों मना किया गया है? सो एक बूढ़े ने किसी जवान से कहा कि एक सन्दूक ऐसी लावो जिसमें सांस लेने के लिए छेद हो, उसमें हमको बन्द कर देना और वही बारात में लिए चलना, पता नहीं, कहो जवानों को तंग करने के लिए ऐसा किया हो। सो बारात में सभी जवान पहुँच गए। वह सन्दूक भी पहुँच गया। जब नाश्ता करने का समय आया तो लड़की वाले ने पूछा कि कितने बाराती कुल आये हैं? बताया मानो 25 बराती कुल हैं। तो लड़की वाले ने करीब तीन तीन पाव की 25 भेली उनके सामने रख दी और कह दिया कि ये सब भेलियां एक-एक तुम सबको खानी पड़ेगी। इस बात को सुनकर सभी हैरान हो गए। सोचने लगे की यह तीन तीन पाव के करीब की भेलियां एक-एक जवान कैसे खा पायेगा? बाद में उसी वृद्ध पुरुष से जाकर कुछ जवानों ने उस समस्या को रख दिया। तो वृद्ध पुरुष ने बताया कि तुम लोग ऐसा करना कि चलते-फिरते, खेलते-कूदते, हँसते-बतलाते सभी भेलियों में से थोड़ी-थोड़ी नोच नोचकर खाना तो खा डालोगे, नहीं तो एक एक भेली नहीं खा सकते। तो उन सब जवानों ने वैसा ही किया। सारी भेलियां थोड़ी ही देर में खा गए। तो वृद्ध पुरुषों के अनुभव कुछ विलक्षण ही किस्म के होते हैं। और, अनुभव होने का कारण भी यही है कि सारी जिन्दगीभर ये खेलतमाशे देखते रहते हैं। सब परिस्थितियों का अनुभव कर डाला है तो उन्हें अनुभव तो होगा ही। ऐसे ही आत्मज्ञान और आत्मध्यान के सम्बन्ध में जिन वृद्धों ने सब तरह की स्थितियों का मुकाबला किया और आत्मध्यान के योग्य अनेक वातावरण बना-बनाकर प्रयोग किया तो उन्हें सब स्थितियों के सब उपायों का अनुभव हो जाता है, ऐसे अनुभवी साधु संत पुरुषों के निकट बैठकर उनके जो उपदेश सुने उसे थोड़ी ही देर में सारभूत तत्त्व की परख आ जाती है। जो पुरुष मंद विक्रमी है, जिसके बल ज्ञान के, शरीर के कम हैं ऐसा पुरुष चाहे कि वृद्ध मण्डली की उपासना न करके, उनके निकट न रहकर, उनको अपना चित्त न सौंपकर जगत के तत्त्वस्वरूप को जानना चाहे तो उसका कार्य ऐसा है जैसा कि वह हाथों से आकाश का माप करे। तत्त्व के यथार्थ परिज्ञान के लिए आवश्यक है कि हम ज्ञानी, तपस्वी, अभ्यस्त पुरुषों की सेवा में अधिकाधिक रहे।

श्लोक- 782

शीतांशुरश्मिसंपर्काद्विसर्पति यथाम्बुधिः।

तथा सद्वृत्तसंसर्गान्नृणां प्रज्ञापयोनिधि:।।

सत्संग से प्रज्ञा का विसर्पण- जिस प्रकार चन्द्रमा की किरणों के सम्पर्क से समुद्र बढ़ता है उस ही प्रकार समीचीन चारित्र के धारण करने वाले सन्त पुरुषों के संसर्ग से मनुष्यों का प्रज्ञारूपी समुद्र बढ़ता है। निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धवश जैसे शुक्लपक्ष में चन्द्रमा की शीतल किरणों के सम्पर्क से समुद्र में जलवृद्धि हो जाती है ऐसे ही समझिये कि सच्चरित्र पुरुषों के संसर्ग से मनुष्य का ज्ञानसमुद्र भी बढ़ने लगता है। आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है ही, विकास की भी बात क्यों कही जाय। यह तो स्वयं ही ज्ञानरूप है, किन्तु मोह रागद्वेष विकार परिणाम होने के कारण ज्ञानविकास रुका हुआ है। स्वयं यह ज्ञानमय है। ज्ञान को छोड़कर आत्मा का और स्वरूप क्या है? जो लोग आत्मा के अस्तित्व का निषेध करते हैं वे ऐसा ही तो समझना चाहते हैं कि जैसे खम्भा, चौकी, पुस्तक ये पिण्ड पदार्थ समझ में आ रहे हैं ऐसा पिण्डभूत कोई आत्मा होगा, और यों समझ में नहीं आता तो वे निषेध करते हैं, आत्मा कुछ चीज नहीं है। यदि इस दिग्दर्शन के साथ चलें कि जो ज्ञानप्रकाश है उस ही का नाम आत्मा है। इस दृष्टि से आत्मस्वरूप को समझाने के लिए बढ़ेंगे तो उन्हें आत्मा के अस्तित्व का परिचय नहीं हो सकता। लोग वह निरखना चाहते हैं इन्द्रियों से। जैसे, आँखों से ये सब पदार्थ दिखते हैं ऐसे ही इन स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र आदि इन्द्रियों के द्वारा इस आत्मतत्त्व को जानना चाहते हैं। जैसे हाथों से छूकर हम बता देते कि यह हाथ है, यह पैर है, यह अमुक चीज है इस तरह से इस आत्मतत्त्व को नहीं बताया जा सकता है। तब इस मार्ग से चलें कि जो जानते हैं उतने का ही नाम आत्मा है। ऐसा भी सोचने में गड़बड़ हो जाता है कि जिसमें ज्ञान है वह आत्मा है। क्योंकि ऐसा सोचकर वह ज्ञान से भिन्न किसी एक के निरखने का यत्न करेगा कि किसमें ज्ञान है। और सोचा तो यों विदित होगा कि देह में ज्ञान है। तो इतना भी घूमकर जतलाने का यत्न न करें, किन्तु जो ज्ञानप्रकाश है, ज्ञानप्रकाश है वही आत्मा है, ऐसी दृष्टि लेकर जब कोई जाननस्वरूप को ही जानने में लग जायगा तो उसे ज्ञानप्रकाश का अनुभव होगा और उस अनुभूति के साथ-साथ अपरिमित निरपेक्ष शुद्ध आनन्द का भी अनुभव होगा, और तब समझ लेंगे कि सर्व आनन्दमय पूर्ण प्रकाशमय तो यह मैं स्वयं ही हूँ। ऐसा ज्ञानमात्र यह आत्मा है लेकिन अत्यन्त भिन्न असार परवस्तुवों में जो झुकाव है, उलझन है, ममता है, रागद्वेष जगता है, इन विकारों के कारण यह ज्ञान का विकास रुका हुआ है। ज्ञान बढ़ाने के लिए साक्षात् उपाय यही होना चाहिए कि मोह रागद्वेष विकार हटें, गंदे विचार न जगें, विषयों के भोगने के भाव न बनें, लोक में सबका मैं नायक रहूँ इस प्रकार की वाञ्छा न जगे, तृष्णा लालच परिग्रह का परिणमन न बने तो स्वयमेव की यह ज्ञानविकास को प्राप्ति हो जायगा। जिस किसी भी उपाय से हम ज्ञान बढ़ाना चाहते हैं उस उपाय में

भी यह तरकीब छिपी हुई है कि मेरे मोह रागद्वेष हट जायें। तो मोह रागद्वेष दूर होने का एक सुगम उपाय है वृद्धसेवा। जो तपश्चरण ज्ञान संयम विवेक धैर्य में बढ़े चढ़े है ऐसे पुरुषों के निकट रहना, उनकी सेवा उपासना करना इससे तत्काल प्रभाव होता है और मोह रागद्वेष दूर होते हैं। इन विकारों के दूर होने पर यह ज्ञानविकास होने लगता है। तब समझ लीजिए कि जैसे चन्द्रमा की शीतल किरणों के संसर्ग से समुद्र बढ़ा, ऐसे ही वृद्ध पुरुषों के संसर्ग से ज्ञान की वृद्धि होती है।

असत्संग की अहितकारिता- असत्संग के समान लोक में कोई विडम्बना नहीं है। लोक में एक टूटी फूटी संस्कृत में कहावत है कि पंडित, शत्रु भलो न मूर्ख: हितकारक:। अगर समझदार है, पंडित है, ज्ञानी है और किसी प्रसंग में उससे कुछ विरोध हो गया है तब भी वह भला है, और कोई पुरुष मूर्ख है, बुद्धि प्रतिभा कुछ नहीं है, सही अर्थ भी नहीं लगा सकता ऐसा मूर्ख पुरुष चाहे हार्दिक मित्र हो तो भी वह हितकारी नहीं है। अपने अपने जीवन प्रसंग में कुछ न कुछ सभी ने अनुभव कर भी लिया होगा। मूर्खों का संग भी हो तो वहाँ अनेक विडम्बनाएँ भोगनी पड़ती हैं। वह मूर्ख यद्यपि मित्र के भले के लिए कुछ करना चाहता है किन्तु उसके ही किए जाने से मित्र का अनर्थ हो जाता है। तो असत्सङ्ग से बढ़कर और विडम्बना की बात क्या हो सकती है और सत्सङ्ग से बढ़कर लाभ की बात और क्या हो सकती है? जितने भी निसङ्ग तत्त्व में लाभ होते हैं वे सब सत्संग के आधार से पुष्ट होकर हुआ करते हैं। जिन्हें बचपन में ही सत्सङ्ग बन जाय तो उनकी भावना उच्च बनती है और भावना में ही समृद्धि है, उनके फिर सही चारित्र के कारण ये लोक के और परलोक के लाभ मिल जाते हैं और जिन्हें बचपन में असत्सङ्ग मिला उनकी असद्वृत्ति और प्रकृति बन जाती है। अन्त में उन्हें दु:ख भोगना पड़ता है। सभी की यही बात है। जवानी अवस्था में तो ज्ञानी संत पुरुषों का समागम प्राप्त होता रहे तो उससे मन काबू रहता है, मन सत्पथ पर चलता है। एक तो वैसे ही विडम्बना की जड़ जवानी है और फिर मिल जाय असत्सङ्ग तो वे शीघ्र पतन की ओर चले जाते हैं। वृद्धसेवा का बड़ा महत्त्व है। सत्सङ्ग के प्रताप से मनुष्य का ज्ञान समुद्र यों बढ़ता है जैसे चन्द्रमा की शीतल किरणों के संसर्ग से समुद्र वृद्धि को प्राप्त हो जाता है। हमें अपनी ज्ञानोन्नति के लिए यह कर्तव्य करना चाहिए कि हम ज्ञानी, तपस्वी, संयमी, विवेकी, धीर संत पुरुषों का समागम करते रहें और लाभ उठायें।

श्लोक- 783

नैराश्यमनुबध्नाति विध्याप्याशाहविर्भुजं।

आसाद्य यमिनां योगी वाक्पथातीतसंयमम्।।

सत्संग में नैराश्यामृत के पान का अवसर- संयमीजनों की संगति से योगी आशारूपी अग्नि को बुझाकर निराशा का आलम्बन करते हैं। भाव दो प्रकार के हैं- एक आशा रूप भाव, दूसरा नैराश्यभाव। जिस परिणाम में किसी परवस्तुविषयक आशा लगती है उस परिणाम का नाम है आशा और जहाँ समस्त विकारों से रहित चैतन्यमात्र निज अन्तस्तत्त्व का अनुभव होता है उस परिणाम को कहते हैं नैराश्य। इस जीव पर संकट अज्ञान का छाया है। अज्ञान न हो फिर जीव पर कोई विपदा ही नहीं है। अज्ञान की दो धारायें निकलती हैं- एक तो परवस्तु को यह मैं हूँ, इस प्रकार मानना और दूसरी धारा है परवस्तु को मेरी है यों मानना। इनका नाम है अहंकार और ममकार। ममकार भाव से भी अहंकार भाव विकट होता है। यह वस्तु मेरी है, ऐसा कहने में इतनी तो फिर भी बात आयी कि मैं मैं हूँ, यह यह है और यह मेरा है। इसमें कुछ थोड़ा सा फर्क आया। अज्ञान तो बराबर है लेकिन परवस्तु को यह मैं हूँ ऐसा मानना यह कोरा अज्ञान है, अहंकार है। अहंकार और ममकार इन दोनों के सम्बन्ध से आत्मा में आशा विकार का उदय होता है। आशारोग से ग्रस्त यह मोही प्राणी कहीं भी अपने उपयोग को स्थिर नहीं कर पाता है, इसका कारण है कि पर तो पर ही है।

सत्संग में शान्तिलाभ का अवसर- संसार में प्रत्येक जीव शान्ति चाहता है। जैसे मनुष्यों की आकृति उत्पत्ति प्रकार आदिक सब एक समान है, चाहे वह भारतदेश का हो, चाहे विदेश का हो, ऐसे ही समझिये कि देह में जो जाननहार आत्मा है जीव है तो जितने भी जीव हैं उन सब जीवों का स्वरूप एक प्रकार का है, इसी कारण किसी जीव से किसी जीव में कुछ अन्तर नहीं है और उपाधि के भेद से जो अन्तर आया है ऐसा भेद और अन्तर भी एक समान प्रकार का है, विधिवत् है। जीव में खोटे परिणाम आने का साधन एक ही तरह का है। कर्मों का उदय हुआ, संसार के ये पदार्थ सामने हुए कि जीव को क्रोध आने लगता है। चाहे वह किसी भी देश का जीव हो, क्रोध आने की सामान्यपद्धति भी समान है, इसी तरह मान, माया, लोभ की भी पद्धति सबकी एक समान है। संसार के सभी लोगों को देखो- दुकानदार, नौकरी करने वाले, रिटायर लोग सभी एक ढंग से दुःखी होते हैं। सबके दुःख के मूल में मोह रागद्वेष पड़ा हुआ है। जो भी जीव दुःखी है वे मोह के कारण से दुःखी हैं। मोह में जीव चाहता तो शान्ति है पर इस अशान्ति के काम में शान्ति कैसे मिले? खून के दाग को क्या खून से ही साफ किया जा सकता है? नहीं किया जा सकता। यों ही मोह से उत्पन्न हुई इस अशान्ति को क्या इस मोह से दूर किया जा सकता है? जिन्हें शान्ति चाहिए उन्हें सर्व पर से न्यारे निज ब्रह्मस्वरूप का दर्शन करना चाहिए, यह तो है साक्षात् साधन और बाहर

में जो इस प्रकार के ज्ञानी विरक्त संयमी साधु हों उनकी संगति करना चाहिए। संयमी मनुष्यों की संगति से आशा नष्ट हो जाती है और निराशा प्रकट होती है, शान्ति प्रकट होती है। जहाँ आशा नहीं रहती है ऐसे पुरुषों के समीप बैठें, जहाँ पाप नहीं है ऐसे मनुष्यों के समीप बैठें तो वहाँ पुण्य और शान्ति प्राप्त होती है। ऐसे ही पुरुषों का नाम है वृद्ध। अवस्था में वृद्धता की बात नहीं कह रहे, जो ज्ञान में बढ़े हैं, तपस्या में बढ़े हैं, जिनके गम्भीरता है, जो सभी जीवों को निरखकर समानता का बर्ताव करते हैं ऐसा जिनके ज्ञान है ऐसे पुरुषों का नाम है वृद्ध और उन सज्जनों की सेवा करने से सर्व क्लेश दूर होते हैं और शान्ति निराकुलता प्रकट होती है।

क्षणमात्र भी परमार्थ सत्संग से अलौकिक लाभ की संभूति- कोई साधु जंगल से जा रहा था नगर में चर्या करने, तो एक लकड़हारा, जिसके पास एक पतली धोती भर थी वह साधु के पीछे लग गया यह देखने के लिए कि यह नग्न भेष वाला साधु देखें कहाँ जाकर क्या करता है? जब साधु नगर में पहुँचा तो वहाँ लोग बड़ा स्वागत करने लगें। कुछ और निकट चलकर लकड़हारे ने साधु महाराज का वह स्वागत देखा। लोगों ने साधु महाराज को विधिपूर्वक आहार कराया और यह जानकर कि इनके साथ में यह कोई ब्रह्मचारी होगा उस लकड़हारे को भी आहार कराया। अब वह लकड़हारा सोचता है कि यह तो बड़ा अच्छा काम है, इनके साथ ही हमें रहना चाहिए। सो उनके साथ ही वह जंगल में चला गया। साधु महाराज ने तो एक दो दिन का उपवास किया। सो लकड़हारा कहता है, महाराज कल की तरह आज फिर नगर चलो। साधु महाराज बैठ गये अपने ध्यान में। वह बोला कि यदि आप नहीं जाते तो अपना पिछी कमण्डल दो मैं जाता हूँ। पिछी कमण्डल उठाकर वह नगर में पहुँचा। नगर में लोगों ने देखकर उसका बड़ा स्वागत किया, पड़गाहकर जब आहार करने ले गए तो उस दिन उसने विशेष स्वागत पाने की खुशी में अल्प आहार किया। लोगों ने सोचा कि आज शायद कोई विधि बिगड़ गई है इससे आहार कम किया है। दूसरे दिन फिर उस लकड़हारे ने वैसा ही किया। साधु महाराज का पिछी कमण्डल लेकर नगर पहुँचा। उस दिन करीब 50 चौके लगे थे, उस दिन के स्वागत की खुशी में उसने भोजन ही न किया और जंगल में साधु के पास आकर बैठ गया। मुनि महाराज ने अपने ज्ञान से जाना कि यह बड़ा भव्य पुरुष है, मंदकषायी है और निकट ही इसका मोक्ष होगा, इसको उपदेश देना चाहिए। साधु ने कहा- अरे भव्य तेरे दो तीन दिन और शेष रह गए हैं, अब तू अपने भव्य परिणाम कर। समता से रह और साधुव्रत अंगीकार कर। तो उसने वहाँ साधु दीक्षा ली और फिर सोचा कि अब दो दिन की आयु हमारी शेष है तो दो दिन के लिए हमारा आहार का त्याग है। यों चार-पाँच उपवास उसने साधुव्रत में किये, यों मरकर वह स्वर्ग में उत्पन्न हुआ। तो थोड़ी सी सत्संगति का यह परिणाम हुआ। सत्संगति में रहने से सभी काम स्वत: बन जाते हैं। जो कुसंगति को छोड़कर

सत्संगति में रहता है वृद्ध पुरुषों की सेवा उपासना करता है उसको बाह्यसमागमों की इच्छा नहीं रहती। सत्सङ्गति का प्रभाव ही ऐसा है। सत्सङ्गति को पाकर बड़े-बड़े राजा महाराजा भी साधुव्रत को लेकर आत्मकल्याण करते हैं। यों संयमी पुरुषों की संगति में रहने से अशान्ति दूर हो जाती है, सत्संगति में रहकर अपना भी अभ्यास कर लिया जाता के मैं आत्मा क्या हूँ, क्या करना चाहिए, वह सब भी उसे भान हो जाता है तो उसे वास्तविक शान्ति प्राप्त होती है।

श्लोक- 784

वृद्धानुजीविनामेव स्युश्चारित्रादिसम्पद:।
भवत्यपि च निर्लेपं मन: क्रोधादिकश्मलम्।।

सत्संग में चारित्रसम्पदा की वृद्धि- सत्पुरुषों की सेवा करने वाले पुरुषों के चारित्र आदिक सम्पदा बढ़ती है और क्रोधादिक कषायों का मैल दूर हो जाता है। जैसे प्रभु की मूर्ति के भक्तिपूर्वक दर्शन करने जो जाता है उसके क्रोध कहाँ उत्पन्न होता है? वह तो सर्व कषायरहित प्रभु के दर्शन करने जाता है, ऐसे ही गुरुवों के सत्सङ्ग में जो रहता है उसके क्रोधादिक कषायें नहीं होती है। प्रयोगरूप से भी देख लो, जब कभी हम आप किसी बड़े साधु के निकट रहते है तो वहाँ कषायें दूर होती हैं, मन स्वच्छ होने लगता है, विषयों की आशा नहीं रहती, तो मन स्वच्छ हो जाता है, फिर मायाचार क्या करे? ये चारों कषायें सबसे अधिक मैली चीजें हैं। व्यवहार में लोग इन नालियों को गंदी मानते हैं जिनमें सारा मैल बहा करता है। जैसे कोई छू ले तो वह अछूत माना जाता है, यह लोक में रूढ़ि है पर यह तो बतलावो कि मूल में सबसे गंदी चीज क्या है? तो दुनिया में सबसे गंदी चीज है मोह। इस मोह के ही कारण यह जीव सारी चीजों का भोग उपभोग करता है, जो चीजें देखने में सुन्दर हैं उन्हें भी यह जीव घृणास्पद बना देता है। यदि इस जीव में मोह न होता तो ये सारी चीजें कहाँ गंदी थीं? वे सारी चीजें तो साफ स्वच्छ जैसी की तैसी थी। जीव ने उन चीजों को ग्रहण किया, वे परमाणु फिर मांस पिण्ड में बन गए, और आज इस स्थिति को प्राप्त हो गए। तो जिन्होंने इस शरीर के परमाणुवों में प्रवेश किया और जिनके प्रवेश से यह शरीर गंदा बन गया वे स्कंध गन्दे हैं, शरीर गंदा नहीं होता। जो अशुद्ध जीव है वह जीव गंदा है और उस अशुद्ध जीव में भी गन्दा मोह है। दुनिया में सबसे गन्दी चीज है मोह। मोह के ही संसर्ग से ये शरीर बने, शरीर के संसर्ग से ये मल आदिक निकले जिन्हें लोग गन्दा कहते। तो इन सब गन्दगियों का मूल कारण मोह

रहा। अब जगत में अनन्त जीव हैं, किसी का कुछ है नहीं, सब न्यारे न्यारे हैं, किन्तु मानते हैं कि ये मेरे हैं, इस मोह परिणाम के कारण ही इस जीव को अशान्ति हुई, परेशानी हुई, अन्यथा इसे कुछ परेशानी का काम न था। विषयों से रहित रहे यह जीव, किसी प्रकार के संकल्प-विकल्प न बनें, किसी में मोह न जगे तो वहाँ दु:ख क्यों होगा? दु:ख का कारण भी मोह है। मोह के सिवाय और किसी को किसी प्रकार का दु:ख हो तो बतावो। किसी का वैभव में मोह है, किसी को परिजन में मोह है, किसी को इज्ज़त का मोह है, यों मोह होने से ही इस जीव को अशान्ति है। जिसे शान्ति चाहिए उसे मोह दूर करना होगा। मोही पुरुषों की संगति में रहो तो मोह ममता जगेगी और सज्जन पुरुषों की संगति में रहो तो मन में प्रसन्नता, अपने अन्दर उज्ज्वलता बढ़ेगी। तो सत्संगति की बड़ी ऊँची महिमा है। जो पुरुष ऐसे सत्पुरुषों की सेवा करते हैं उनके चारित्र आदिक प्राप्त होती हैं।

चारित्र की परसम्पदारूपता- सबसे बड़ी सम्पदा है चारित्र। अपनी करतूत सही रहे, परिणाम निर्मल रहे, करनी अच्छी रहे, यही है सबसे बड़ी विभूति। धन वैभव मानो नष्ट हो गया, कम हो गया तो कुछ नहीं गया, कुछ कम नहीं हुआ, ये तो सब पुण्य के सेवक हैं, पुण्य के अनुसार प्राप्त होते ही हैं, जितना भाग्य में हो उतना प्राप्त हो ही जाता है तो वह कुछ नहीं गया किन्तु जब अपने भाव खोटे बना लिया, अपना पुण्य समाप्त कर दिया तो समझो सब कुछ गया। जो वैभव प्राप्त हुआ है वह भी तो कुछ दिनों में मिट जायगा। तो जो चारित्र है अपना शुद्ध आचरण बने यह बड़ी भारी सम्पत्ति है। और, यह सम्पत्ति प्राप्त होती है ज्ञानी पुरुषों के सद्‌व्यवहार से। जब भक्त पूजा करता है प्रभु की और प्रभु पूजा करके जब अन्त में अपनी भावना प्रकट करता है तो वह 7 बातें प्रभु से मांगता है- प्रथम तो उसकी भावना है कि मेरे शास्त्र का अभ्यास बढ़े अर्थात् ज्ञान बढ़े क्योंकि सुख शान्ति ज्ञान में ही है। अपना ज्ञान सही रहे, बुद्धि न बिगड़े तो सर्व सुख मिलते हैं और बुद्धि बिगड़ गई, ज्ञान बिगड़ गया, दिमाग बिगड़ गया, अपने आपके वश में न रहा तो लोग कहते हैं कि उसका जीवन रहना एक समान है। जैसे जो पागल है वह जगह-जगह जो चाहे बकता फिरता है, उसे कुछ भी विवेक नहीं है तो उसे देखकर लोग कहते हैं कि हाय इसका जीवन बेकार हो गया। घर में अगर किसी का दिमाग खराब हो गया, पागल हो गया तो लोग उसे पागल समझकर पागलखाने में भेज देते हैं। तो है क्या वहाँ? बुद्धि खराब हो गयी। वहाँ अधिक बुद्धि खराब हो गयी तो लोग पागल कहने लगे, यहाँ रहते हुए कभी कभी बुद्धि खराब हो तो यह क्या पागल नहीं है। बुद्धि खराब हो जाना यही क्लेश का कारण है।

सत्संग में बुद्धि की व्यवस्थितता- बुद्धि व्यवस्थित रहती है सत्पुरुषों की भक्ति से, जहाँ वृद्ध पुरुषों के प्रति भक्तिभाव रहता है वहाँ बुद्धि व्यवस्थित रहती है। लोग शिक्षा देते हैं ना बच्चों को कि

देखो माता पिता की सेवा करो। माता पिता भी तो बच्चों की अपेक्षा वृद्ध पुरुष हैं, ज्ञानी हैं, अनुभवी हैं, दूसरे उनका लौकिक सम्बन्ध भी गुरुता का है। तो माता पिता की जो सेवा करते रहते हैं उन बच्चों की बुद्धि सही रहती है। उनके हर जगह बुद्धि की प्रगति रहती है, और जो समर्थ होकर भी माता पिता को क्लेश पहुँचाते रहते हैं उनकी बुद्धि मलिन रहती है, तो उस बुद्धि की मलिनता के कारण उनकी बुद्धि ऐसी अटपट हो जाती है कि जिससे उन्हें क्लेश, आकुलता, फँसाव बढ़ने लगता है। तो वृद्ध पुरुषों की, माता पिता की, गुरुजनों की सेवा करना और परमार्थतया जो ज्ञानी विरक्त संत पुरुष हैं उनकी सेवा में रहना, यह सत्संगति अनेक अवगुणों को दूर कर देती है।

पूजक की भावना में सत्संग का उपयोग- पूजा कर चुकने के बाद भक्त भावना करता है। उस भावना में दूसरी भावना है जिनेन्द्र भगवान के चरणों की सेवा। जिनेन्द्र का अर्थ है जो रागद्वेष मोह को जीत ले। सो जिन वे ही इन्द्र याने श्रेष्ठ। जैन शब्द किसी एक खास जाति का नाम नहीं है, किन्तु जो रागद्वेष मोह को जीत लेने वाले प्रभु को मानते हैं, उनकी वाणी पर श्रद्धान करते हैं उनका नाम जैन है। ऐसे जैनों के जो इन्द्र हैं, मुख्य हैं, तीर्थंकर देव हैं अथवा समस्त अरहंत देव हैं उनके चरणों में हमारी नुति बनी रहे, मेरा हृदय उनके गुणों में बना रहे वह दूसरी भावना वह पूजक करता है, तीसरी भावना है सत्संगति। संत जनों के साथ हमारा समागम बना रहे, वे आदि पुरुष हैं जो संसार, शरीर, भोगों से विरक्त हैं। विषयों में लगना महान अनर्थ है। जो विषयों में लग रहे हैं उनकी संगति से आत्मा को कोई लाभ नहीं प्राप्त होता। यह संसार ऐसे ऐसे शरीर धारण करते रहना, जन्म मरण होते रहना यह सब विषयों में प्रीति करने का फल है। यह आत्माराम तो केवल ज्ञानस्वरूप है, इसमें ज्ञान और आनन्द का स्वरूप पड़ा हुआ है। लेकिन आज इसकी यह विडम्बना बन रही है, जिस पर्याय में जाता है उस ही पर्याय को आपा मान लेता है, ऐसी इसकी विडम्बना जो बन रही है इसके कारण यह नाना शरीरों में भ्रमण करने लग गया है। जो पुरुष विषयों से विरक्त हैं, ज्ञान में अनुरक्त हैं ऐसे नि:स्वार्थ निष्काम पुरुषों के संग में रहना चाहिए। तो तीसरी भावना यह पूजक सत्संगति की करता है।

गुणिगुणगान और दोषवादमौन की भावना में सत्संग का प्रभाव- चौथी भावना यह करता है ज्ञानी कि मेरे मुख से सज्जन पुरुषों का गुणगान ही होता रहे। सत्पुरुषों के गुणों का गान वही कर सकता है जिसे गुणों का प्रेम हो। जिसके स्वयं के गुणों का विकास होने को होता है वही गुणियों के गुणों का ज्ञान कर सकता है। गुणगान करने से गुणों पर दृष्टि रहती है। पूजक पुरुष यही तो चाहता है कि मेरा जो सहज गुण है ज्ञानानन्दस्वरूप वह प्रकट हो। तो इस भावना को पुष्ट करने के लिए गुणवान पुरुषों के गुण गाये जाते हैं। जिसके गुण गाये जाते हैं उसे गुण गाये जाने से कोई लाभ

नहीं मिलता, किन्तु जो गुणगान करता है, उसको गुण गाने से लाभ पहुँच जाता है। तो अपने ही भले के लिए हमें संत पुरुषों के गुणों का ज्ञान करना चाहिए। पूजक इन चार भावनाओं से संत पुरुषों के गुणगान करने की इच्छा करता है। 5 वीं भावना में भा रहा है ज्ञानी कि मेरे पर के दोषों के कहने में मौन रहे। दूसरे पुरुषों के दोष तभी कहे जा सकते हैं जब खुद को दोषों में प्रेम हो। जो स्वयं अपने दोष बढ़ाते रहते हैं वही दूसरों के दोष देखेंगे। दूसरे के दोषों को देखने की क्यों दृष्टि हो? उससे लाभ क्या मिलेगा? दोष देखें तो दोषों में उपयोग रहेगा, जो अज्ञानी हों, जिनके कषाय भरी हो ऐसे पुरुष ही दोषग्राही होते हैं। जैसे जोक गाय के थन में लग जाय तो भी वह दूध नहीं पीती किन्तु गन्दा खून ही पीती है। ऐसे ही जिनके दोष ग्रहण करने की दृष्टि हैं, स्वयं दोषी हैं, स्वयं कायर हैं तो वे दूसरे के दोषों को ही निरखते हैं और दोषों के कहने में सुख समझते हैं, लेकिन दूसरों के दोष देखने में अनेक अनर्थ हो जाते हैं।

खुद को दोष प्रेम जगा, खुद का उपयोग बिगड़ा और जिसके दोष कहे गए उसके द्वारा विपदा भी प्राप्त हो सकती है। लाभ कुछ भी नहीं है बल्कि सब नुकसान ही नुकसान है। यह पूजक भावना करता है कि हे प्रभो ! दूसरों के दोषों के कथन में मेरा मौन भाव बने। छठवीं भावना में भक्त कहता है कि सब जीवों के लिए मेरे प्रिय और हितकारी वचन निकलें। मुझमें ऐसी क्षमता हो। मनुष्य का धन वचन है, वचनों से ही वह सुखी हो सकता है और वचनों से ही यह दु:खी हो सकता है। दु:खकारी वचन बोल देने से खुद को कुछ लाभ नहीं होता, किन्तु जब कोई स्वयं अपने चित्त को दु:खी कर लेता है तब दूसरों को दु:ख पहुँचाने वाले वचन बोल सकता है। उसमें लाभ कुछ नहीं है, अशान्ति है, पर जब कषाय जगती है तो इन पुरुषों को यह विवेक नहीं रहता और जिसमें इन्होंने अपनी शान्ति समझी है उस ही कार्य को करने लग जाते हैं। कुबुद्धि से यह अप्रिय अहितकारी वचन बोलता है। किसी को यदि बड़े सम्मान से कह दिया, आइये साहब बैठिये तो ये कितने अच्छे वचन हैं और किसी ने कहा जाओ वहाँ बैठो, आ जावो, बैठ जावो, भग जावो इन शब्दों में कहाँ सम्मान की बात बसी है? इसमें तो दूसरे को तुच्छ निगाह से देखा। तो जो स्वयं तुच्छ हो वही दूसरे को तुच्छ समझेगा। तो हे भगवन् ! सब प्राणियों के प्रति मेरे हित, मित, प्रिय वचन निकलें।

अन्त: सत्संग की भावना- पुजारी की अन्तिम भावना यह है कि हे भगवन् ! इस निज आत्मतत्त्व में मेरी भावना बनी रहे। आत्मतत्त्व है ज्ञानस्वरूप। जहाँ मात्र ज्ञान ज्ञान का ही प्रकाश है ऐसे आन्तरिक विलक्षण प्रकाशपुञ्ज को आत्मा कहते हैं। उस आत्मा का तत्त्व है ज्ञानस्वरूप। तो यह भावना मेरी रहे कि मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञानमात्र हूँ, सबसे न्यारा केवलज्ञानस्वभाव मात्र हूँ, ऐसी

भावना जगे इसे कहते हैं आत्मतत्त्व की भावना। यों पुजारी इन 7 बातों की भावना करता है। जैसे एक सत्संगति की निगाह से देखा जाय तो ये सबके सब काम सत्संगति के हैं। जहाँ भगवान के प्रति भक्ति जग रही है, ज्ञानी संतपुरुषों के प्रति भक्ति जग रही है, ज्ञानी पुरुषों के सद्उपदेशों में भक्ति जग रही है वहाँ समझो सत्संगति की जा रही है। दूसरों का चारित्र का जो गुणगान करें वह भी सत्संगति है। गुण सत् है और जिनका गुणगान किया जा रहा है वे संत पुरुष हैं। दोषों के कहने में मौन रखे तो इसमें भी सत्संगति पैदा होती है, इस उत्कृष्ट सत्संगति के प्रताप से दोषों में प्रवृत्ति नहीं बनती। सबसे हित, मित, प्रिय वचन बोलें तो इसमें भी सत्संगति पैदा होती है। जिससे बोलेगा वह भला मानकर बोलेगा और जिस प्रिय शुद्ध वाणी से बोलेगा वह वाणी स्वयं सत् है। उनका संग किया जा रहा है। तो ये सब सत्संग हुए। और जब अपने आत्मस्वरूप की भावना की जाती है तो आत्मस्वरूप एक महान सत् है, उसका संग किया जा रहा है। उसकी उपासना है। तो जितने भी हमारे धार्मिक कर्तव्य हैं, उनमें परोक्ष और प्रत्यक्ष सत्संग हुआ करता है। सत्संग करने वाले पुरुषों के चारित्र आदिकी सम्पदा प्राप्त होती है, कामादिक कषायें दूर होती हैं और सुलभ भी भोगों में तृष्णा नहीं रहती। तब इस ज्ञानबल से यह जीव अपने आपको शुद्ध आनन्दरूप अनुभव करता है।

श्लोक- 785

सुलभेष्वपि भोगेषु नृणां तृष्णा निवर्तते।
सत्संसर्गसुधास्यन्दै: शश्वदार्द्रीकृतात्मनाम्।।

सत्सङ्गसुधास्यन्द से तृष्णादाह का शमन- सज्जन पुरुषों के संसर्ग से ऐसी अमृत की झरना प्रकट होती है कि जिस अमृत के झरने से भीगा हुआ पुरुष इतना शान्त हो जाता है कि उसे भोगों में तृष्णा का भाव नहीं रहता है। सबसे बड़ी ज्वाला है तृष्णा। तृष्णा को सभी जानते। तृष्णा कहो, लोभ कहो, लालच कहो, अपने आपके इन्द्रियविषयों की मूर्ति के लिए जो भी बाह्यवस्तुओं का संचय किया जाय उसका नाम तृष्णा है। तृष्णा एक कठिन ज्वाला है, तृष्णा करने वाला पुरुष रात दिन बेचैन रहता है। शरीर की वेदना में तो उसे सहनशीलता हो जाती है, पर तृष्णा की वेदना जगे तो निरन्तर आकुलता रहती है। एक मनुष्य बाजार में चला, उसे थी एक नारियल की जरूरत। तो बाजार में उसने पूछा कि नारियल क्या भाव दोगे? दुकानदार बोला- 8 आने में देंगे। तो वह कहता है कि 4 आने में न दोगे? दुकानदार बोला- अगर चार आने का चाहिए तो नागपुर चले जावो, वहाँ

चार आने का मिलता है। उसने नागपुर जाकर पूछा- नारियल कितने में दोगे?...बोला चार आने में। ...दो आने में न दोगे? ...दो आने का चाहिए तो बम्बई चले जावो। उसने बम्बई जाकर पूछा नारियल कितने में दोगे? बोला दो आने में। एक आने में न दोगे? ...एक आने का लेना हो तो पास के देहातों में चले जावो। वहाँ जाकर पूछा- नारियल कितने में दोगे? बोला एक आने में देंगे। आध आने में न दोगे?...अरे आध आना भी क्यों खर्च करते हो, पास में वे पेड़ खड़े हैं तो जितने चाहो तोड़ लावो। वह पास के पेड़ों में पहुँचा, चढ़ गया, पर ऊपर उसके पैर फिसल गए, सो एक डार पकड़कर लटक गया। अब वह सोचता है कि हम तो बिना मौत मरे। तृष्णा न करते तो यह हाल न होता। इतने में निकला एक हाथी वाला। उसने कहा भाई तुम हमें उतार लो तो हम तुम्हें 500) रु. देंगे। वह हाथी पर खड़ा होकर उसको पकड़कर उतारना चाहता था पर उस तक पहुँच न पाता था, करीब एक हाथ ऊपर था सो उचककर ज्यों ही उसके पैर पकड़ा त्यों ही हाथी खिसक गया। वह भी उसी में लटक गया। इतने में एक ऊँट वाला निकला सो वे दोनों कहते हैं कि हम दोनों को उतार लो, तुम्हें पाँच पाँच सौ रुपया देंगे। सो जब वह उन्हें उतारने चला तो वह भी पहुँच न सका, ज्यों ही उचककर पेड़ पकड़ा ज्यों ही ऊँट खिसक गया और वह भी उसी में लटक गया। अब इतने में निकला एक घोड़ा वाला, उससे वे तीनों कहने लगे कि हम तीनों को उतार लो, तुम्हें पाँच पाँच सौ रुपये देंगे। वह भी जब उतारने को हुआ तो घोड़े के खिसक जाने से उसी में लटक गया। तो यह एक तृष्णा की बात बताई जा रही है। तृष्णा करने से बड़ी-बड़ी विडम्बनाएँ बन जाती हैं। ऐसे तृष्णा दहन का शमन सत्संगसुधा के झरने में स्नान किये बिना कैसे हो सकता हैं?

सत्संग में तृष्णाविनाश से शान्तिलाभ का अवसर- तृष्णा के अनेक रंग होते हैं, उनसे ठगाया गया यह प्राणी आपत्तियाँ ही पाता है। कभी कोई सब्जी खरीदने आप बाजार जायें तो अगर सस्ती चीज खरीदना चाहो अथवा कुछ तृष्णा करना चाहो तो उसमें चीज रद्दी ही मिलती है। वह चीज बेकार हो जाती है। जैसे सेब कई किस्म के होते हैं कुछ 12 आने सेर के मिल जायेंगे और कुछ चार रुपये सेर के मिलेंगे। तो तृष्णा करके अगर कोई 12 आने सेर वाले सेब खरीद ले तो उसके वे सेब ही बेकार हो जायेंगे। बल्कि अच्छे वाले सेब अगर सेर भर की जगह एक पाव ही ले आता तो वह उन्हें प्रेम से खाता तो। तो यह तृष्णा करना योग्य नहीं है। इस तृष्णा के फल में अशुभ समय देखना पड़ता है। यह तृष्णा इस जगत के जीवों को परेशान किए हुए है। तो भोगों की तृष्णा ज्ञानी जीवों के नहीं रहती। वे भोग सुलभ भी हैं, अनायास प्राप्त होते हैं, पुण्य का उदय है तिस पर भी जिसे सच्चा ज्ञान जग गया कि इस जगत में सारभूत कुछ नहीं है। अपने आत्मा का सच्चा ज्ञान बने और इसमें ही अपना आचरण करें तो यही सारभूत चीज है। हमारे साथ रहने वाली समता है, और बाह्य में तो यह समस्त पदार्थ लुभाने वाले हैं, ये सब अनर्थ करने वाले हैं। तो जिनका आत्मा

सज्जन पुरुषों की संगति से अमृत के झरने से गीला हो गया है अर्थात् ज्ञान की चर्या और चिन्तन करने से जिनका हृदय योग्य बन गया है ऐसे पुरुषों को सुलभ भोगों में भी तृष्णा नहीं जगती है। जितना भी क्लेश है वह तृष्णा का है। तृष्णा दूर हो तो अवश्य शान्ति होगी। इन सब बातों के लिए हमें चाहिए कि हमें सत्संग मिलता रहे, दुष्ट पुरुषों का संग न करें। सत्संगति में रहने से यह जीवन भी सुखपूर्वक व्यतीत होगा और अगला जीवन भी सुखपूर्वक व्यतीत होगा।

श्लोक- 786

कातरत्वं परित्यज्य धैर्यमेवावलम्बते।
सत्संगजपरिज्ञानरञ्जितात्मा जनः स्वयम्।।

सत्संग में धैर्यलाभ- सज्जन पुरुषों का संग करते रहने से जिनका आत्मा ज्ञान से रजायमान हो गया है ऐसे पुरुष अपने आप ही कायरता को छोड़ देते हैं और धैर्य का आलम्बन करते हैं। आत्मा विषय और कषायों में लग जाय, पापों में बुद्धि चले, यही है आत्मा की कायरता और विषयकषायों से हटकर अपने ज्ञानस्वरूप की भक्ति करें, भगवान की उपासना करें तो यही है आत्मा की शूरता। जगत के जीव प्रत्यक्ष विषयकषायों में रत हो रहे हैं। इन विषयकषायों का रुच जाना यही कायरता है जिसमें न मनोबल लगाना पड़ता, न आत्मबल की जरूरत है। कुछ पुण्य सामग्री पाकर विषयकषायों में लगे तो यह कायरता ही तो है। सज्जन पुरुषों के संग से यह सब कायरता दूर हो जाती है। जब यह विषयभोगों की कायरता दूर हो जाती है तो धैर्य प्रकट होता है। धीरता में बुद्धि स्वच्छ होती है। जहाँ रागद्वेष नहीं जगता, समतापरिणाम रहता है वहाँ धैर्य प्रकट होता है, यह बात सत्संगति से प्राप्त होती है और सत्संगतिमात्र से नहीं, किन्तु सत्संगति से जब आत्मा ज्ञान से रंजित हो जाता है तब धैर्य प्रकट होता है, तो सत्पुरुषों की संगति से ज्ञान प्रकट होता है, कायरता नष्ट होती है। सत्संग बहुत आवश्यक तत्त्व है। कल्याणार्थी के लिए सत्संगति एक बहुत आवश्यक कदम है।

श्लोक- 787

पुण्यात्मनां गुणग्रामसीमासंसक्तमानसैः।
तीर्यते यमिभिः किं न कुविद्यारागसागरः।।

सत्संग में गुणानुराग के कारण कुविद्या का परिहार- जिसका चित्त पुण्य पुरुषों के गुण समूह में लग रहा है वह समझो सत्संगति कर रहा है। इस अज्ञानरूपी विषम समुद्र से क्या यह तिर न लेगा? अवश्य की तिरेगा। जिनका चित्त सज्जन पुरुषों के गुणगान में लग गया है उनकी अन्य पदार्थों से प्रीति हट ही जाती है। इस जीव को चाहिए एक परमविश्राम। तो सज्जन पुरुषों के संग में रहकर शान्ति मिलती है, उसका कारण यह है कि ज्ञान पर दृष्टि अधिक रहती है। ज्ञान की बात सुनने को मिलती है। तो जो बात अधिकाधिक मिले उसमें यह जीव रम जाता है। तो ज्ञान में रमण होने से परतत्त्वों के जो विषय प्रसंग हैं उनसे इसका चित्त हट जाता है, तो पुण्य पुरुषों के संग से ज्ञानप्रकाश का लाभ मिलता है। बारबार ऐसी भावना भावो कि मैं देह से भी न्यारा हूँ। देखिये आपका यह घरेलू मंत्र है। जानना सोचना यह कोई कठिन बात तो नहीं है। अन्तर में ऐसा चिन्तन करें कि मैं देह से भी न्यारा ज्ञानस्वरूप हूँ, इस ज्ञानस्वरूप की बारबार भावना बनाने से ये कषायें दूर होती हैं, और, जब कषायें दूर हुई तो पुण्यबंध भी बहुत होता है, धर्म का मार्ग भी मिलता है, उससे नियम से जीवन सुखमय व्यतीत होता है। जिसे आप ज्ञानस्वरूप कहते हैं वही तो आत्मा है। मैं ऐसा करता हूँ, मैं यह करूँगा, अगर कर्ता कोई न होता हो फिर यह वाक्य कैसे बोला जाय और फिर वाक्यों का अर्थ भी क्या रहा? जैसे हम अन्य पुरुषों के लिए कहते हैं वह आया तो वह कोई चीज तो है जिसको देखकर आने की बात कह रहे हो। तो जो कुछ अपने आपमें मैं मैं के रूप में जान रहा है, जो मैं की बात अपने मन में करते हैं उसही का नाम तो आत्मा है। उस आत्मा की भावना बारबार की जाय वही मात्र एक शरण चीज है। जो अपने को ऐसा मानेगा कि मैं इतने लड़कों वाला हूँ, इतने वैभव वाला हूँ, ऐसे मकान महल वाला हूँ तो ऐसी भावनाएँ बनाने से वह विकल्प ही मचायेगा। कोई भी जीव किसी दूसरे के कुछ करने से भला बुरा वही बनता स्वयं का प्रभाव है, स्वयं ही उपादान है। जैसा संग मिले जैसा उपादान हो वैसा ही अपने को आबाद अथवा बरबाद कर लेता है। जिन्हें बरबादी से बचना है उनका कर्तव्य है कि सज्जन पुरुषों के गुणगान में अधिक चित्त बसायें। क्योंकि जब सत् पुरुषों के गुणों में मन लग जाता है तब अन्य किसी पदार्थ में प्रीति नहीं रहती। जब बाह्यपदार्थों का विकल्प नहीं रहता तो आत्मा में शुद्ध अनुभव जगता है, यह कोई कठिन बात नहीं है। सब लोग कर सकते हैं। अभी सोच लो कि मैं इस देह से भी न्यारा

ज्ञानमात्र हूँ, ऐसा बारबार चिन्तन करके अपने आपको ज्ञानमात्र अनुभवना यह जब बनता है तो भव-भव के बाँधे हुए पापकर्म कट जाते हैं। तो अपना कर्तव्य है कि अपने को ज्ञानस्वरूप ही माना करें। और, जो यह समागम मिला, गृहस्थी मिली इसे एक झंझट समझें। सद्गृहस्थ वही है जो घर में रहता हुआ जल में भिन्न कमल की तरह रहे। जैसे कमल जल से ही तो पैदा हुआ और जल का संग छोड़ दे तो कमल सूख जायगा। तो जल में ही पैदा हुआ, जल के ही कारण वह हरा भरा है लेकिन जल को छूता नहीं है। जल से बहुत ऊँचे उठा रहता है। यदि वह जल छू ले तो कुछ ही समय बाद सड़ जायगा। तो जैसे पैदा होकर भी, जल में रहकर भी कमल जल से अलग है, निर्लेप है इसी तरह ज्ञानी गृहस्थ यद्यपि घर में पैदा हुआ है और घर में ही रह रहा है फिर भी वह अपने को सबसे न्यारा अनुभव करता है। ज्ञानी पुरुष के उपयोग में यह अंधकार नहीं है जो अपने ज्ञानस्वरूप को भूलकर और केवल इस मायामय विनश्वर देह में आपा मान बैठा। उसकी दृढ़ प्रतीति है कि मैं सबसे न्यारा केवल ज्ञानस्वरूप हूँ। तो अपने आपके सत्यस्वरूप की प्रतीति में महान बल है, बड़ा चमत्कार है। जो पुरुष ऐसे संत पुरुषों के गान में ही अपना चित्त रखते हैं उनके अज्ञान कभी नहीं ठहर सकता। जब अज्ञान में चित्त नहीं रहा, विषयों में चित्त रहा तो अपने आप ही आत्मा की प्रतीति हो जाती है। प्रयोजन यह है कि सत्संगति से रुचि करें और असत्संग से दूर रहें।

श्लोक- 788

तत्त्वे तपसि वैराग्ये परां प्रीतिं समश्नुते।
हृदि स्फुरति यस्यौच्चैर्वृद्धवाग्दीपसन्तति:।।

सत्सङ्ग से तप, तत्त्व व वैराग्य में परमप्रीति की संभूति- जिस पुरुष के हृदय में सज्जन पुरुषों के वचनरूपी दीपक की परिपाटी प्रकाशमान रहती है उस पुरुष के तत्त्व में, तप में, वैराग्य में उत्कृष्ट प्रीति बनती है। सब प्रीति का ही तो फल है। यदि तपस्वी के तप में, ज्ञान में, ज्ञानियों में प्रीति लग जाय तो उसका बड़ा मधुरफल मिलता है। ज्ञान स्वच्छ रहता है, चित्त प्रसन्न रहता है, शुद्धमार्ग सूझ जाता है, फिर वह अंधकार में नहीं रहता। और जिन पुरुषों की प्रीति विषयों में लग जाय तो इस प्रीति के कारण वह अपने को बरबाद कर डालता है, तो सब एक प्रीति पर निर्भर है। हमारी प्रीति तपश्चरण, ज्ञान वैराग्य में बने इसके लिए यह चाहिए कि जो वृद्ध पुरुषों के वचन है, सत्पुरुषों की वाणी है वही है दीपक की तरह। उस दीपक का प्रकाश अपने हृदय में फैलाये तो

अच्छे काम में रुचि जग सकती है। यह बहुत बड़ी विभूति है। और, जिनकी खोटी बातों में रुचि चले वे अपना मनोबल, वचनबल और कायबल सब समाप्त कर देते हैं। जिसके आत्मा में ज्ञानबल नहीं रहा, आत्मा में कमजोरी आयी तो उसे फिर विषयकषाय और सताने लगते हैं। तो इन संतपुरुषों की वाणी अपने हृदय में रहे तो फिर कहीं भूलभुलैया नहीं है। है क्या, कहीं बैठे बैठे अपने को मान लो कि मैं सबसे निराला केवल ज्ञानमात्र हूँ, यह मैं ज्ञानमय पदार्थ अकेला ही उत्पन्न होता हूँ और अकेला ही रहूँगा, अकेला ही सुख-दु:ख भोगता हूँ। ऐसे ऐसे इस अकेले ज्ञानप्रकाशमात्र आत्मा की भावना बनायें और उस ज्ञान को अपने अन्दर में देखें, अनुभवें तो अच्छे कार्यों में रुचि जगेगी। शुभ कार्यों में रुचि जगने से आत्मा प्रसन्न रहता है और विषयकषायों में रुचि जगने से वह कायर अप्रसन्न दु:खी रहा करता है। तो अपने आपको सुखी करने का यही एकमात्र उपाय है कि हम सत्संग करें और अपने आपकी रुचि धर्म में बढायें, तपश्चरण में बढायें तो इसमें आत्मा पवित्र होगा और भावीकाल में हमें फिर भी धर्म का समागम प्राप्त होगा। और उस धर्मपालन के प्रसाद से हम अपने आपको पवित्र बना लेंगे। इससे कर्तव्य है कि हम ज्ञानी संत पुरुषों की रुचि करें, उनका अधिक समागम बनायें, उनके उपदेश श्रवण करें, और उन उपदेशों का मनन करके अपने को प्रसन्न बनायें।

श्लोक- 789

मिथ्यात्वादिनगोत्तुङ्गश्रृङ्गभङ्गाय कल्पित:।
विवेक: साधुसंगोत्थो वज्रादप्यजयो नृणाम्।।

साधुसंग से उत्पन्न विवेक में मिथ्यात्वपर्वत के भंग करने की क्षमता- ज्ञानी विरक्त साधु पुरुषों की संगति से जो विवेक उत्पन्न होता है वह विवेक मिथ्यात्व मोह जैसे ऊँचे पर्वत के शिखरों का खण्ड करने के लिए वज्र से भी अधिक बलवान होता है। जैसे यह बात प्रसिद्ध है कि इन्द्र का शस्त्र बड़े-बड़े पर्वतों के शिखरों को चूर कर देता है उससे भी अधिक समर्थ वह विवेक जगता है जिस विवेक से यह ज्ञानी मोह मिथ्यात्व पर्वतों के खण्ड खण्ड कर दे। मिथ्यात्व नाम है उल्टी धारणा का अर्थात् भ्रम हो जाने का। पदार्थ तो है और कुछ, समझ रहे हैं और कुछ, इस ही का नाम मिथ्यात्व है। ये जगत के जीव प्राय: इस ही मोह से ग्रस्त होकर अपने आपको बरबाद कर रहे हैं। यह शरीर सदा रहने वाली चीज नहीं है, आज शरीर का समागम है कहो कल को न रहे। और,

जब तक शरीर का समागम है तब तक भी आत्मा न्यारा है, शरीर न्यारा है लेकिन शरीर में यह जीव कैसी आत्मबुद्धि किए है कि यह मैं हूँ। और शरीर में जब आत्मबुद्धि कर ली कि यह मैं हूँ तो शरीर के ही खातिर जो और-और सम्बन्ध बने हैं उनमें भी यह ममता करता है कि यह मेरा फलाना रिश्तेदार है। अरे जीव का कोई रिश्तेदार होता है क्या? जीव का तो शरीर भी कुछ नहीं है? फिर रिश्ता क्या चीज है? लेकिन शरीर का तो शरीर से रिश्ता चलता है ना। यह शरीर जिनके निमित्त से जन्मा है वे तो कहलाये माता पिता। इस शरीर के निमित्त से जो जन्मते हैं वे कहलाते हैं पुत्र पुत्री। इसी शरीर को जो रमाती है उसका नाम है स्त्री। इस शरीर के जनक का जो भाई हो वह है ताऊ, चाचा। इस शरीर के उत्पन्न करने वाली माँ की जो बहिन हो वह है मौसी। सारे रिश्ते इस शरीर के कारण हैं। जब इस जीव ने शरीर को मान लिया कि यह मैं हूँ तो ये सारे रिश्ते सही मालूम होने लगे। जिन भगवान को, गुरुवों को हम पूजते हैं उनमें और बात ही क्या थी, यही तो बात थी कि उनका ज्ञान सच्चा था, किसी से रागद्वेष नहीं था, किसी से मोह ममता न थी। वे अपने अनन्त आनन्द में लीन रहे। ज्ञान के द्वारा समस्त लोकालोक को जानते रहे। यही तो विशेषता है जिससे हम प्रभु की पूजा करते हैं, भक्ति करते हैं। हे नाथ ! जो गुण आपमें हैं वे गुण मुझमें प्रकट हो जायें, ऐसी मेरी निर्मल दृष्टि बने, विवेक जगे कि मैं सत्य को सत्य समझने लगूँ, असत्य को असत्य समझने लगूँ। यह सारा संसार प्राय: असत्य की ओर लगा हुआ है। जीव जीव तो सब एक समान है। पर उनमें भी यह भेद डाल लेना कि ये मनुष्य मेरे हैं, ये गैर हैं, यह कोई विवेक की बात है क्या? उन घर के चार जीवों के अतिरिक्त अन्य जीवों की ओर कुछ दृष्टि ही नहीं जाती। ऐसा जो खोटा परिणाम उत्पन्न हो रहा है, इस ही के कारण इस जीव पर अनेक विपदायें हैं। इससे बढ़कर और क्या विपदा होगी कि सच न जानकर झूठ के उपायों में लगे रहते हैं। यही मिथ्यात्व है, इस मिथ्यात्व भाव के कारण ही सब दु:खी हैं। तो विकट मिथ्यात्व पर्वत को भी विवेक चूर चूर कर देता है।

विवेक की सर्वसमृद्धियों में महनीयता- सबसे बड़ी समृद्धि है विवेक। यदि विवेक साथ है तो चाहे धन कम रह जाय, चाहे अन्य शारीरिक संकट आ जायें, चाहे कुछ भी स्थिति हो, सब स्थितियों को एक समान कर सकते हैं और सुखी रह सकते हैं। विवेक न हो तो सब कुछ होकर भी दु:ख ही दु:ख भोगना पड़ता है। इस ही भारत देश की तो बात थी, पहिले जब कौरव और पाण्डव थे। उनके सब कुछ था, पर हो गया उनमें परस्पर में विद्रोह। यद्यपि पाण्डवों ने कौरवों का अकल्याण नहीं सोचा गलती विशेष कौरवों की ओर से थी, पर कुमति जग जाने के कारण कौरव तथा पाण्डव दोनों को दु:ख भोगना पड़ा। अन्त में महान युद्ध हुआ जिसमें लाखों मनुष्यों का संहार हुआ। यह क्या विडम्बना है? यह सब मोह का ही काम है। मोह के समान जीव का कोई दूसरा

बैरी नहीं है। जिस ज्ञानी के चित्त में दूसरे जीवों के प्रति प्रेम बना हुआ है, सब जीव एक स्वरूप वाले हैं, केवल जीवस्वरूप पर दृष्टि है, अपने आपमें ज्ञानप्रकाश सच्चा जग रहा हो उस पुरुष को तो सब समृद्धियाँ मिली हुई हैं। शान्ति सन्तोष हो तो इससे बढ़कर और धन क्या है? जब सन्तोष धन हृदय में प्रकट होता हे तो ये सब हाथी, घोड़ा, धन, वैभव, मकान ये सब तृण के समान लगने लगते हैं। है क्या चीज? अपना परिणाम सुधरे तो भाग्य सामने अच्छा आये। आल कल देख लो लोगों में परस्पर में विद्रोह है, ईर्ष्याद्वेष है, दूसरों के प्रति दया नहीं है तो ऐसा परिणाम बनने से देखिये समय भी किनारा करता जा रहा है। जब वर्षा चाहिए तब वर्षा नहीं होती जब वर्षा न चाहिए तब वर्षा होती, कंकड, पत्थर गिरते, एक ही क्या, अनेक प्रकार के बाहरी उपद्रव आते। भाग्य प्रतिकूल है तभी तो ये सारे उपद्रव आ रहे हैं। अब यह बतलावो कि धन को बढ़ाने से, धन के लालच करने से क्या लाभ? उदय अनुकूल नहीं है तो लाखों का धन भी शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। यदि हम उदारता न रखें, धन की तृष्णा बढायें और हो जाय अचानक उपद्रव तो लो एक साथ क्या से क्या हो गया? किसी का कल भी पता नहीं कि क्या से क्या हो जाय? ऐसी कठिन हालत में हम आप सबका यही कर्तव्य है कि अपने परिणामों की संभाल करें, दया का भाव भरें, सब जीवों के सुखों की चाह करें, सब प्राणी सुखी हों, किसी को अपना विरोधी बैरी न मानें, इन परिणामों से पुण्य बढ़ता है और पुण्य से सब कुछ साधन ठीक मिलते हैं। यह सब ऐसा पुण्य का परिणाम होना सत्पुरुषों के संग से मिलता है। सज्जनों की संगति से गुरुजनों के संग से, उनकी सेवा में रहने से विवेक सही रहता है, कर्तव्य का भान रहता है। दूसरों पर दया की बात मन में आती है।

सद्विवेक का प्रताप- सत् विवेक में इतना प्रताप है कि जीव के बैरी मोह को चूर चूर कर देता है। देखिये घर वही है, रहना भी वहीं हो रहा, काम भी कहीं कर रहे हो, एक उसके साथ अज्ञान और लगा हो कि यह मेरा ही तो सब कुछ है, इससे ही तो मेरी तरक्की है, इससे ही मेरा हित है, बड़प्पन है, यों अज्ञान बना रहे इन जड़पदार्थों में तो उसकी आकुलता देख लो कितनी तीव्र आकुलता रहती है? जरा सा नुकसान हो जाय तो छटपटा जाते हैं और एक वही काम किए जा रहे हैं कि हम संसार में यत्र-तत्र जन्म लेते रुलते आज मनुष्यभव में आये हैं। जिन प्राणियों से हमारा कुछ भी सम्बन्ध न था वे प्राणी हमें परिवार में मिले हैं, तो एक गृहस्थी के कर्तव्य के नाते हम यह सब कर रहे हैं लेकिन ये मेरे कुछ नहीं हैं, और यह बात सच है कि अपना यहाँ है कुछ नहीं। यहाँ से मरकर न जाने कहाँ से कहाँ पैदा हो गए, फिर यहाँ का क्या रहा इसका? तो जो सच बात है उस सच बात की दृष्टि बनी रहे तो गृहस्थी वही है, सब बात वही है लेकिन एक सम्यग्ज्ञान बनने से आकुलताओं में कमी आ जाती है। विवेक सही रहता है तो अपना विवेक ज्ञान सही बना रहे यही है सबसे बड़ी सम्पदा। और इन जड़ वैभवों का सम्बन्ध यह कोई सच्ची सम्पत्ति

नहीं है और फिर इनका भरोसा भी कुछ नहीं है। उदय अनुकूल हो, पुण्य का प्रभाव हो तो मनचिन्ती सम्पदा आ जाती है। और पाप का उदय जगा तो आयी हुई सम्पदा भी खतम हो जाती है। बतावो तृष्णा का वेग उठता है कल्पनावों का क्या उठता है? तृष्णा करके थोड़ा उस ओर बढ़े, कुछ खेद किया तो समझों कि अपना कुछ न कुछ नुकसान तो हो ही गया। अब कल्पनाएँ बनायें कि हमारा क्या होगा, ऐसा बन जायगा, यों बनेगा। कल्पनाओं का उठना क्या? और, गनीमत है इस बात की कि हम चाहें कि बड़ा नुकसान न हो। अरे बड़ा भयंकर कोई उपद्रव बने तो सब कुछ नष्ट हो सकता है। यों ही व्यापार की बात है। हम सोचें, तृष्णा करें, धन जोड़ें, उसकी रक्षा करें तो कहाँ तक करेंगे? भाग्य अगर अनुकूल नहीं है तो वैभव सम्हाला न सम्हलेगा। अगर हमारा परिणाम पवित्र है, अपने भाग्य को सम्हाले हैं तो समझो कि अपना सब कुछ सम्हाला है। ये सब विवेक वृद्धसेवा से उत्पन्न होते हैं। ज्ञानी, तपस्वी, विरक्त संत पुरुषों की संगति से ये परिणाम स्वयमेव प्राप्त होते हैं। विवेक जगता है उससे पुण्य बढ़ता है और मिथ्यात्व आदिक मोह बैरियों का भी लोप होता है। तो सत्संग से बढ़कर और कुछ वैभव नहीं है। ऐसे सुगम उपाय से हम अपने पापों को दूर कर लें। सत्संग से प्रताप से भव-भव के पाप भी नष्ट हो जाते हैं।

श्लोक- 790

अप्यनादिसमुद्भूतं क्षीयते निबिडं तम:।
वृद्धानुयायिनां च स्याद्विश्वतत्त्वैकनिश्चय:।।

वृद्धसत्सङ्ग में अनादिसमुद्भूत गहन अज्ञानान्धकार का भी प्रक्षय- जो पुरुष वृद्ध पुरुषों के अनुयायी हैं उनका अनादिकाल का उत्पन्न भी घोर अज्ञान अंधकार नष्ट हो जाता है और तत्त्व का पूर्ण सही निश्चय हो जाता है, जो जैसा है वैसा परख में आ जाय इससे एक बड़ा विश्राम मिलता है। जैसे हम किसी बच्चे से कोई गणित का सवाल पूछे तो जब तक उस सवाल को वह हल नहीं कर लेता तब तक बेचैन रहता है और जब सवाल को हल कर लेता है तो तुरन्त उसका उत्तर वह बोल उठता है और प्रसन्न हो जाता है। तो भाई वह दु:खी क्यों हुआ था? क्या उसे कोई शारीरिक कष्ट था, क्या उसे कोई मार पीट रहा था? अरे सही ज्ञान नहीं हो पा रहा था, इससे वह बेचैन था, सही ज्ञान हो जाने पर उसकी बेचैनी दूर हो गई। उसके मुख पर प्रसन्नता आ गई। तो अज्ञान में बड़ी वेदना होती है। ज्ञान जगने पर ही वह वेदना दूर होती है। तो सत्पुरुषों के संग से ऐसा ज्ञान

जगता है कि भव-भव से चला आया हुआ अज्ञान भी दूर हो जाता है। कम से कम इतनी असर तो तुरन्त पड़ी है सत्पुरुषों के संग में, साधुवों के संग में आने से कि मोह ममता में कुछ ढिलाव हो जाता है। खूब देख लो- जब आप घर में रहते हैं तो मोह ममता तीव्र बन जाती है और जब सत्संग में आते हैं तो आपका मोह कम हो जाता है। भले ही वह जड़ से न मिटे, थोड़ी देर बाद फिर हो जायेगा, लेकिन इतना प्रभाव तो तुरन्त मिलता है, कषायें कम हो जाती हैं। कितनी ही क्रोध करने की प्रकृति हो, महापुरुषों के संग में रहने पर गुस्सा में कमी आ जाती है। यद्यपि गुस्सा जड़ से नहीं मिटी, थोड़ी देर बाद गुस्सा आ जायगी लेकिन तत्काल यह असर होता है कि नहीं? खामखा किसी बात पर गुस्सा करे और फिर उपयोग बदल जाता है, ज्ञानी पुरुषों के दर्शन से अथवा सत्संग से एक यह उपयोग बदल जाता है, यह सत्संग का महात्म्य दिखा रहे हैं कि वह कितनी हितकारी वस्तु है, उससे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह भव-भव के इस मोह अंधकार को दूर कर देता है।

सत्संग से कषायविजय का लाभ- सत्संग में निवास करने का एक असर यह होता है कि मानकषाय नहीं रहती। लोग मान से अपने को उच्च समझते हैं लेकिन मान होने से मनुष्य पतित हो जाता है। किस बात पर अभिमान होना, संसार की कौनसी विभूति ऐसी है जो अभिमान करने लायक है? प्रथम जो मिला है उस सबका वियोग हो जायेगा चाहे हमारे जिन्दा रहते ही वियोग हो जाय। चाहे मैं मर जाऊँ तो वियोग हो जाय, पर जिसका भी संयोग हुआ है उसका वियोग नियम से होगा। फिर जिस चीज का वियोग हुआ है उसका क्या अभिमान? और फिर मिली हुई जो ये जड़ सम्पदायें हैं ये तो जड़ ही हैं। ज्ञानरहित है, इनका क्या अभिमान करना? यों मान लो कि जो कुछ तीन लोक में पड़ा है यह सब मेरा है एक मानने भर की तो बात है, चीज तो आपकी नहीं बनती। यह मानते रहे कि यह मेरा घर है, यह मेरा वैभव है, यह मेरी चीज बैंक में जमा है अथवा अमुक जगह है, ऐसा मानते हैं ना। लोकव्यवस्था में यद्यपि है वह आपकी चीज, फिर भी आपकी नहीं है। आपका तो वह शरीर भी नहीं है। तो इन सब जुदे पदार्थों पर काहे का अभिमान करना? यह विवेक जगता है सत्पुरुषों की संगति से। मायाचार भी नहीं रहता सज्जन पुरुषों के संग में। किस बात का मायाचार करना? उन वृद्ध पुरुषों की संगति में रहने से एक ऐसा प्रभाव बनता है कि सरलता जग जाती है। लोभ लालच नहीं रहता। आप देखिये कि अब भी मनुष्यों में कितना धर्मप्रेम है कि धर्म के हित, पर के उपकार के हित, अपनी सामर्थ्य के अनुसार जब तब व्यर्थ करते ही रहते हैं। तो यह धर्मरुचि की ही तो बात है। तो धर्ममय जो जीव हैं उनके संग में रहने से लोभ लालच की भी बात परिणाम में नहीं रहती है, ऐसा ज्ञानप्रकाश जगता है सज्जन पुरुषों के संग में या धर्मात्मा पुरुषों की सेवा से, वैयावृत्ति से कि मोह अंधकार दूर हो जाता है और फिर तत्त्व का यथार्थ निर्णय हो जाता है।

स्वरूपनिर्णय और सत्संगवाद से ज्ञानानन्दानुभव के लाभ का अनुरोध- मैं जीव हूँ, ये सब पदार्थ अजीव हैं। जब यह जीव इन अजीव पदार्थों की ओर झुकता है तो इसके कर्म बँधने लगते हैं और जब यह पर को पर जानकर उससे विरक्त रहता है और अपने को ज्ञानमात्र हूँ ऐसा ही अनुभव करता है तो इसका कर्मबन्ध दूर हो जाता है और अपने आपमें अवर्णनीय आनन्द प्रकट हो जाता है। भाई चाहिए तो आनन्द ही ना, तो आनन्द का जो सच्चा रास्ता है उस रास्ते का ज्ञान जरूर करना चाहिए और अपनी शक्ति माफिक उस रास्ते पर चलना चाहिए। आनन्द पाने का रास्ता है अपने को सबसे भिन्न समझ लो। पर को पर समझ लो और यह निर्णय कर लो कि किसी परपदार्थ के कैसे ही परिणमन होने से मेरे आत्मा में सुख दु:ख नहीं होता, किन्तु मैं ही अपने अज्ञान में आ जाऊँ तो दु:खी होता हूँ और मैं ही ज्ञान में आ जाऊँ तो सुखी होता हूँ। यह बात यथार्थ सत्य है, अतएव मैं पर को पर जानकर उसमें मोह न करूँ और अपने को आत्मस्वरूप परमात्मस्वरूप भगवान का रूप निरखकर अपने में प्रसन्न रहा करूँ, ऐसी यदि हम परिणति बना सके तो हमने इस मनुष्यजन्म का लाभ लिया और यदि विषयों में, कषायों में, क्रोध, मान, माया, लोभ, ममता, अहंकार, व्यसन, पाप हिंसा इन ही बातों में यदि अपना चित्त लगाया तो मनुष्य होना, पशु होना, पक्षी होना, ये सब एक ही प्रकार की बातें हैं। मनुष्य होकर कोई खास लाभ न लिया तो क्या फायदा पाया? समस्त लाभों में लाभ है सत्संग करना। जो ज्ञान और तपस्या में बढ़े हुए सत्पुरुष हों उनका संग करना इससे वे सभी गुण प्रकट होते हैं, वह ज्ञानप्रकाश जगता है जिस ज्ञानप्रकाश में हम अपने शान्तिपथ की ओर चल सकते हैं। सत्संग में रुचि करो और अधिकाधिक अपने में ज्ञान प्रकट करने का यत्न करो।

श्लोक- 791

अन्त:करणजं कर्म य:स्फोटयितुमिच्छति।
स योगिवृन्दमाराध्य करोत्यात्मन्यवस्थितिम्।।

सत्संगसेवा से कर्मभेदन कर आत्मावस्थिति का लाभ- जगत में जो जीवों में विचित्रता देखी जाती है, कोई पशु योनि में है, कोई पक्षी, कोई मनुष्य और कोई किसी प्रकृति का है, कोई किसी प्रकृति का है। जो ये नाना भेद देखे जाते हैं। यह सब अपनी-अपनी करनी के भेद से हैं। सब जीवों की जैसी करनी होती है उस करनी के अनुसार वैसा शरीर मिलता है, सुख मिलता है और उस ही

करनी का कर्म बँधता है। तो ऐसे मन से उत्पन्न हुए ये पापकर्म कैसे दूर हों उसका उपाय बताया जा रहा है, भव-भव के बाँधे हुए ये कर्म दूर हो सकते हैं। अपने आत्मा के ज्ञान से परपदार्थों में मोह किया कि नाना कर्म बंध जाते हैं। दूसरे के मोह की बात तो झट समझ में आ जाती है कि यह कितनी गलती कर रहा है, यह इतना तेज मोह रखता है। भिन्न पदार्थों में यह व्यर्थ मोह रखता है। यों दूसरे की बात तो जल्दी समझ में आ जाती है पर अपने मोह की पहिचान जरा कठिन होती है। दूसरे की मूर्खता जल्दी समझ में आ जाती है, यह कितना मूर्ख बन रहा है, कैसा क्रोध करता है, कैसा विषयलोलुपी है, यों दूसरे की गलती जल्दी मालूम हो जाती है किन्तु अपनी गलती अपने दिमाग में नहीं आती है, यह सब मोह का ही कारण है। अपने आपकी पर्याय में इतनी ममता है कि इसे अपनी गलती समझ में नहीं आती। जैसे कोई बीमार हो तो परहेज न कर पाये तो लोग उसे धमकाते हैं और लोग उसे समझाते हैं कि तू जरा भी जीभ को वश में नहीं कर पाता और दु:खी रहता है और स्वयं का कोई परहेज हो तो बिरले ही लोग ऐसे हैं जो अपने खुश मन से परहेज को कर लें, नहीं तो उस वस्तु की चाह लगी रहती है कि खाने को मिले, और रोग भी ऐसा होता है कि जिस रोग में जो चीज अहितकारी है उसकी इच्छा होती है। तो दूसरे की गलती झट समझ में आती है, अपनी गलती बहुत देर में समझ में आती है। अपनी गलती अपनी समझ में आ जाय तो यह भी एक बड़ा ज्ञान है। मनुष्य को चाहिए तो यह कि रोज एक बार यह विचार कर ले कि मैंने किसी को सताया तो नहीं। मैंने किसी पर क्रोध तो नहीं किया। अगर अपनी गलती समझ में आये तो अपनी गलती का पछतावा करें, मैंने यह कार्य अच्छा नहीं किया। इस असार संसार में मैंने व्यर्थ ही दूसरे को यों सताया या क्रोध किया उससे मुझे लाभ कुछ नहीं हुआ। बल्कि अपना ही बिगाड़ कर लिया। जिस किसी को भी सताया हो या उस पर क्रोध किया हो तो उसके समीप जाकर कहें कि भाई मुझे क्षमा करो। वीर धीर पुरुष ज्ञानी पुरुष अपने किए हुए अपराध में क्षमा मांग लेने में रंच भी संकोच नहीं करते हैं। हाँ किसी का अन्याय न सहें, यह भी मेरा काम है पर अपने द्वारा किसी पर कुछ अन्याय हो गया हो तो उसकी क्षमा मांग लेने में कोई हानि नहीं है। यही तो उसका बड़प्पन है। जो मनुष्य अभिमान से रहता है उसका जनता में कुछ बड़प्पन नहीं होता। जितनी नम्रता से रहें, दूसरों के जितना उपकार में रहे उतनी ही उसकी लोक में प्रतिष्ठा होती है।

अपने पारमार्थिक लाभ हानि के समझ लेने का कर्तव्य- यह कर्तव्य है सबका कि अपना दिनभर का हिसाब देखें। जैसे व्यापारी लोग अपने व्यापार में आय व्यय का हिसाब लगाते हैं, अपना नफा नुकसान देखते हैं ऐसे ही अपनी दिनचर्या का रोज हिसाब देखना चाहिए। यह काम तो सब कोई कर सकता है। रुचिभर चाहिए। इसमें धनी और गरीब की कोई बात नहीं है। अपनी रोज की की हुई गलतियों को परखना और अपनी की हुई गलतियों पर पछतावा करना यह तो सभी

लोग कर सकते हैं, सभी पुरुष, सभी महिलायें यह काम कर सकती हैं, उससे दूसरे दिन सावधान रहने की प्रेरणा मिलती है, अब ऐसी गलती कल न हो, उसके लिए मार्ग मिलता है। रोज की चर्या में रोज किसी समय अपना लेखा लगाना और जो गलतियाँ हुई है उनका पछतावा करना, आगे दिन ऐसी गलतियाँ न होने देने का संकल्प करना यह जीवन को पवित्र बनाने वाला कार्य है। जब कभी हमारे किसी दुर्व्यवहार से इन्द्रिय के विषयों में आसक्ति हो अथवा कभी मान आदिक के वशीभूत होकर अटपट कार्य करने से जो भी कर्म बंधते हैं उन कर्मों को यदि नष्ट करने की चाह है तो उसका यह उपाय है कि अपने आत्मा का ज्ञान करें। मेरा आत्मा जगत के समस्त पदार्थों से न्यारा प्रभुवत् ईश्वररूप है, ज्ञानानन्दस्वरूप है, हममें कोई क्लेश ही नहीं। अज्ञान रागद्वेष मोह ये तो कोई विकार नहीं, ये तो उपाधि से अर्थात् दूसरों के संग से खोटे भाव होने लगते हैं। हमारा स्वभाव नहीं है ऐसा कि हम खोटे विचार बनाते ही रहें। तो आत्मा का जो सत्य स्वरूप है, जिसके दर्शन करने पर सब जीव एक समान नजर आते है, फिर मेरा न कोई किसी से सम्बन्ध है, न किसी का कोई परिजन मित्रजन है, ऐसा विशुद्ध विचार रखने वाला पुरुष कर्मों को नष्ट करता है। तो ऐसे आत्मा की भावना सत्संग से बनती है। जिन योगिराजों के साधुवों के साधुसंतों के संग में रहने से ऐसी ज्ञानकला प्रकट होती है अपने आत्मा का अनुभव जगता है, और उस अनुभूति की प्राप्ति से कर्मों का नाश होता है। यह है असली प्रोग्राम। बाकी तो सब बातें अपने भाग्य के उदय के अनुकूल चलती ही रहती है।

श्लोक- 792

एकैव महतां सेवा स्याज्जेत्री भुवनत्रये।
ययैव यमिनामुच्चैरन्तर्ज्योतिर्विजृम्भते।।

वृद्धसेवा से अनुपम विजय- महान पुरुषों की सेवा ही एक तीन लोक में जयशील है। सब कामों से विजयी परिणाम रखने वाली विद्या है बड़ों की सेवा। लोकव्यवहार में भी जो बड़े जन हों, गुरुजन हों, शिक्षा देने वाले हों, माता पिता हों, बुजुर्ग हों, अपने हितकारी कोई हों उनके सामने विनयपूर्वक रहना, भक्ति से रहना इससे आत्मा में बड़ी योग्यता बढ़ती है। और उसके पुण्य होता है और सुख समृद्धि उसके सामने आती है। बड़ों की सेवा करना यह बहुत बड़ा मूल गुण है, बड़े के दिन से कोई आशीष निकले, बड़े पुरुष किसी के हित का चिन्तन करें तो उसके ख्याल से आश्वासन से बड़े-बड़े संकट दूर हो जाते हैं। दुवा आशीष का भी तो कुछ महत्त्व है, जिस पर बड़े

की दुवा नहीं है, आशीष नहीं है वे पुरुष जीवन में सुखी शान्त नहीं हो पाते। और, फिर उद्दण्डता किस बात पर करनी? यहाँ अपना क्या साम्राज्य गाड़ जाना है, क्या करना है, किनके लिए अन्याय करना है, अपने बड़े बूढ़े माता पिता इनकी भक्ति करना, विनय करना, सेवा करना यह बहुत बड़ा गुण है, इससे बड़ी शान्ति मिलती है। उद्दण्डता का व्यवहार करना, इससे कुछ तत्त्व की बात नहीं मिलती। और, फिर यहाँ लोकव्यवहार में बड़ों की सेवा करेंगे तो भगवान की भी भक्ति बन सकेगी और यदि दुर्व्यवहार करेंगे तो उनसे भगवान की भी भक्ति सेवा बन नहीं सकती। तो बड़ों की सेवा ही इस लोक में जयशील होती है। और, इससे ही बड़े विचारशील मुनियों के मन में ज्ञानरूपी प्रतीति का प्रकाश विस्मित होता है। बुद्धि ही तो है। यदि अच्छी ओर लग जाय तो बुद्धि और स्पष्ट निर्मल हो जाती है और थोड़ा मलिन काम की ओर बुद्धि लग जाय तो वह बुरा काम बुद्धि को मलिन कर देता है और जिससे बुद्धि बुरे काम में लगती ही चली जाती है। तो बुद्धि खोटे काम में न लगे, इसकी रोक करने वाली कोई और औषधि है तो वह है सत्संगति। सत्संग में, साधुसंतों की सेवा में रहने वाले व्यक्ति के कभी किसी पापोदय से कोई मलिन परिणाम भी हो जाय तो फिर सम्हाल हो जाती है। मलिन पापों का कारण है यह धन परिग्रह। इससे मूर्छा हटे और सज्जन पुरुषों की संगति में चित्त जमे तो उसका कल्याण अवश्य होगा।

परिग्रहसम्पर्क से सद्भाववैभव का विनाश- एक कथानक है- दो भाई थे। दोनों धन कमाने के लिए परदेश चले गए। धन खूब कमाया और कई वर्ष बाद में सोचा कि चलो अपने घर चलें, उतना धन कैसे ले जाया जा सके? तो सब धन बेचकर दो रत्न खरीद लिए। दो रत्न लेकर चलें, रत्न बड़े भाई के हाथ में थे, समुद्र का रास्ता था। समुद्र में नाव पर बैठे जब चले जा रहे थे तो बड़ा भाई सोचता है कि ये रत्न तो हमने कमाये। घर जाकर बट जायेंगे, एक ही रत्न मिलेगा, सो ऐसा करें कि इस छोटे भाई को समुद्र में ढकेल दें। यह मर जायेगा तो हमें दोनों रत्न मिल जायेंगे। फिर थोड़ा संभला सोचता है, ओह मैंने यह क्या सोच डाला था इन रत्नों के कारण? यह सोचकर वह अपने छोटे भाई से कहता है कि ये रत्न अपने पास रख लो हम न रखेंगे। जब छोटे भाई ने अपने पास वे रत्न रख लिए तो उसके भी मन में वही खोटे भाव आ गए। वह सोचता है कि ये रत्न कमाये तो हमारी बुद्धि से गए हैं, घर जाकर बट जायेंगे, हमें एक ही रत्न मिलेगा, सो ऐसा करें कि इस बड़े भाई को ढकेल दें, यह मर जायेगा तो हमें दोनों रत्न मिल जायेंगे। वह भी संभला। सोचा- ओह मैंने क्या व्यर्थ की बातें सोच डाली थी इन रत्नों के कारण? खैर, किसी तरह जब घर पहुँचे तो वे रत्न अपनी बहिन को दे दिया। बहिन भी सोचती हैं कि ये रत्न तो भाई हमसे ले लेंगे, सो ऐसा उपाय कोई करे कि ये भाई मर जायें तो ये रत्न हमें मिल जायेंगे, फिर वह संभली, उसने भी अपने पास उन रत्नों को रखना स्वीकार नहीं किया, आखिर वे रत्न माँ के पास रख दिये। माँ भी

सोचती है कि ये रत्न बड़े अच्छे हैं पर इन्हें लड़के छुड़ा लेंगे, अगर इन्हें अच्छी तरह छिपाकर रहें तो बुढ़ापा हमारा अच्छा कटेगा। न जाने बुढ़ापे में कोई सेवा करे न करे, सो उसने भी उन रत्नों को छिपाकर रखने की सोची, बाद में वह भी संभली। अपने बेटों से बोली- यह क्या आफत लाये हो, ये तो बड़ी खराब चीज है। तुम इन्हें अपने पास रखो, हमें न चाहिए। आखिर सबने अपनी अपनी बात बतायी और अन्त में यह तय हुआ कि इन्हें समुद्र में फेंक दिया जाय। गरीबी अच्छी है पर यह चीज अच्छी नहीं है, ऐसा ही किया। तब सब सुखी रह सके। तो बुद्धि बिगड़ती है इस परिग्रह में मूर्छा बुद्धि रखने में। आपस में भाई-भाई लड़ जाते हैं। अरे भाई किसी के पास सम्पदा कम भी हो और भाग्य अच्छा हो तो कुछ ही समय में सब कुछ सम्पदा आ जायगी, और अन्याय से कुछ ज्यादा रख ले और भाग्य साथ न दे तो कितने दिन रहेंगे? अपने भाग्य पर भरोसा रखना चाहिए।

विशुद्ध भावना से अपना भविष्य विशुद्ध बनाने का अनुरोध- किसी भी मनुष्य को मेरे कारण आपत्ति न आये, ऐसी शुद्ध भावना रखना चाहिए और अपने जान जितना बन सके दूसरे लोग सुखी रहें ऐसा उद्यम करें, थोड़े खर्च भी करने पड़ें, शरीर से सेवा भी करनी पड़े तो ये सब करके दूसरों को प्रसन्न रखने की, सुखी रखने की हमारी ओर से चेष्टा और इच्छा होनी चाहिए। तो सबका सुख चाहता है उसको सुख नियम से मिलता है, और जो दूसरे का दु:ख चाहता है तो वह दूसरा चाहे दु:खी न हो पर खुद को दु:ख अवश्य हो जाता है। जैसे कोई पुरुष हाथ में आग लेकर किसी दूसरे को मारे तो वह मारने वाला तो जल ही जाता है और जिसके मारा है वह जले या न भी जले। जो दूसरों की चीज हड़पने की, दूसरे के साथ अन्याय करने की कोशिश करेगा वह पहिले अपना पुण्य तो खतम ही कर लेगा। तो विशेष बात यह करने की है कि अपने भाव अच्छे रहें। किसी का बिगाड़ करने की बात मन में न आये। ये सब बातें महान पुरुषों की सेवा करने से मिलती रहती हैं। जो हमारे करने योग्य काम है हित अहित सबका विवेक महान पुरुषों की सेवा में होता है। तो सत्सङ्ग में ऐसा मुख्य साधन है कि जिससे हमें हित अहित की सुध रहती है और जिसमें हमारा हित हो उसमें लगे रहने की भावना और चेष्टा बनती है। इससे सत्सङ्ग को बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य समझना चाहिए।

श्लोक- 793

दृष्ट्वा श्रुत्वा यमी योगिपुण्यानुष्ठानमूर्जितम्।
आक्रामति निरातङ्कः पदवीं तैरुपासिताम्।।

सत्संग से संतों की भांति सद्विकास का लाभ- जो सज्जन पुरुष होते हैं, संयमी, ज्ञानी, मुनि उन संत पुरुषों का आचरण देखकर अथवा किन्हीं संत पुरुषों की कथा सुनकर खुद के परिणाम निर्मल होते हैं और ऐसी इच्छा जगती है कि उन योगीश्वरों जैसा कार्य करके ऐसे उत्कृष्ट सुख को प्राप्त करना है जिस सुख में बीच में कहीं उपद्रव न आना चाहिए। सत्संग का ऐसा असर होता है। एक कवि ने कहा है कि दो तोते थे भाई भाई, एक साथ पैदा हुए, उनमें से एक तोता तो आ गया चाण्डाल के घर, जिसका हिंसा करने का काम था, शिकार शिकार की ही जिसमें रट थी, ऐसे पुरुष के घर में आ गया और दूसरा किसी ज्ञानी पुरुष के घर में। तो कुछ समय बाद उन तोतों पर ऐसा असर पड़ा कि जो हिंसक के घर में आया था वह तोता तो काटो छेदों की रट लगाये और एक तोता राम राम की रट लगाये। तो देखो संगति का ऐसा ही असर होता है। जब पशु पक्षियों पर भी सत्संग का असर लगता है तो मनुष्य पर क्यों न लगेगा? जिस मनुष्य को अपनी उन्नति चाहिए वह अपना सम्बन्ध अपनों से बड़ों का रखे, संयमपूर्वक रहते हुए जो ज्ञानवार्ता करता हो, जिसके चित्त में ज्ञान समाया हो ऐसे मनुष्य के निकट बैठें, मन न लगता हो तो जबरदस्ती बैठें, कुछ समय बाद ऐसा प्रभाव होगा उस सत्संग का कि स्वयं अच्छे आचरण में लग जायेगा। सत्संग से अधम से अधम भी तिर गए, ऐसे बहुत से कथानक मिलेंगे। जब बड़ों का आचरण देखते हैं तो खुद भी वैसा ही आचरण करने का प्रयत्न करने लगते हैं। यही एक कारण है कि अच्छे पुरुष की सोहबत में रहने से अपने में अच्छे गुण आ जाते हैं। जो पुरुष ज्वारी हों, मांसभक्षण, मदिरापान करते हों, स्त्री व्यसन करते हों, चोरी करते हों, झूठ बोलते हों, दूसरों की निन्दा करते हों, ऐसे पुरुषों का संग करने से खुद भी ये अवगुण आ जाते हैं तो आप अपनी जिन्दगी में सिर्फ दो ही कामों पर दृष्टि डालें- एक तो कभी क्रोध न करें और दूसरे कभी दूसरों की निन्दा न करें। मोह का छोड़ना यदि कठिन है तो हम उसकी बात अभी नहीं कह रहे लेकिन मोह के त्यागे बिना तो धर्ममार्ग में कोई चल ही नहीं सकता, पर वह बड़ा कठिन लग रहा होगा, वह तो ज्ञान द्वारा दूर होता है। तो इतनी बात चित्त में लावें कि कभी क्रोध न करें और दूसरों की निन्दा न करें।

क्रोध में स्वगुणदहन- देखिये क्रोध में अपने समस्त विवेक खतम हो जाते हैं, अपनी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, फिर कभी हित की बात नहीं सोच सकते। क्रोध करके तो यह जीव अपना सारा बिगाड़ ही कर लेता है। जिस पर क्रोध किया है वह तो तुरन्त सजा देने की सोचेगा। अपना आत्मा तो आनन्दस्वरूप है, ईश्वर का रूप है। इस आत्मा ने क्रोध करके जो अपने को सता डाला तो यह अपने आप पर अन्याय ही तो किया। दुनिया में देख लो, क्रोध करके किसी ने कोई लाभ पाया?

बड़े-बड़े पुरुषों का चारित्र देख लो, क्रोध करके वे भी यत्र-तत्र कितना पीड़ित रहे? और, फिर सर्वत्र क्रोधमयी जीवन में सार कुछ भी नहीं निकलता है। खुद को परेशान करना, दूसरे जीवों को दु:खी करना यह कोई भली बात नहीं है। पहली बात जीवन में समानी चाहिए कि हमें अपने जीवन में क्रोध न करना पड़े। क्रोध न करें और दूसरी बात बतायी है निन्दा न करना।

निन्दक और निन्दा की निन्द्यता- निन्दा करने वाले को तो सबसे अधिक निन्दनीय बताया गया है। उसे एक तरह से चाण्डाल की उपमा दी है। सबसे अधिक चाण्डाल पशुवों में तथा, पक्षियों में कौवा और मनुष्यों में निन्दक। जो पुरुष दूसरे की निन्दा करता है वह दूसरों से आदर नहीं पाता है बल्कि दूसरों की निगाह में गिर जाता है। लोग समझ जाते हैं कि इसका ही बड़ा तुच्छ हृदय है और यों कल्पनाएँ लोग कर लेते कि इसकी कुल परम्परा में भी ऐसे ही दूसरों की निन्दा करने वाले लोग होंगे तो निन्दा करना बहुत खोटी प्रवृत्ति है, और, निन्दा करने वालों को बिना मतलब में विपत्ति मिलने लगती है। जिसको निन्दा की, वह भी अपनी मण्डली बनाकर उससे बदला लेने की बात सोचेगा। तो निन्दक पुरुष की कोई इज्ज़त नहीं रहती। और, जो निन्दा करना एक बहुत बड़ा दुर्गुण समझते हैं, निन्दा से दूर रहते हैं वे मनुष्य होकर भी देवस्वरूप बन जायेंगे।

क्रोध और निन्दा न करने के कर्तव्य की उन्निनीषुको अत्यावश्यकता- एक तो क्रोध न करना और एक निन्दा न करना ये दो मुख्य गुण प्रत्येक व्यक्ति में होना चाहिए। क्रोध न करने के लिए थोड़ा यह विवेक जरूर होना चाहिए कि जगत के ये सब जीव हैं उन सबके अपनी-अपनी कषायें लगी हैं और अपनी-अपनी कषायों के अनुसार ही वे अपना काम करते हैं। उनसे मेरा क्या बिगाड़ है? मेरा ही भाव खोटा हो तो मेरा बिगाड़ होगा। अपना परिणाम क्यों बिगाड़े? अपने परिणामों को निर्मल रखें तो मेरे क्षमा बनी रहेगी। क्रोध न होगा। ये दो दुर्गुण छूट जायें तो आत्मा में एक बहुत बड़ी शान्ति सन्तोष प्राप्त होगा। ये सब बातें मिलेंगी किसी महान पुरुष की सेवा में रहने से। उनके पवित्र आचरण को देखकर यह इच्छा होगी कि मैं तो ऐसा ही आचरण करूँ और मैं भी इसी प्रकार शान्त सुखी हो सकूँ। तो महापुरुष की संगति का बहुत बड़ा महात्म्य है। अपना श्रम करके सब कुछ न्यौछावर करके भी कोशिश यह करते रहें कि संत महंतों का, ज्ञानी पुरुषों का संग अधिकाधिक मिलता रहे, उससे परिणाम निर्मल होगा। परिणाम निर्मल होने से पुण्यबंध होगा और विशेष निर्मलता से धर्मलाभ होगा। धर्मलाभ होने से सुख शान्ति प्राप्त होगी।

श्लोक- 794

विश्वविद्यासु चातुर्यं विनयेष्वतिकौशलम्।
भावशुद्धिः स्वसिद्धान्ते सत्संगादेव देहिनाम्।।

सत्संग से विद्याचातुर्य का लाभ- सत्पुरुषों की संगति से समस्त विद्यावों की चतुरता की प्राप्ति होती है। जो बातें वचनों से नहीं मिलती, वे सज्जन पुरुषों के संग में रहने से प्राप्त हो जाती हैं। सज्जन पुरुषों को रात दिन की चर्या के अवलोकन से उनकी प्रयोगात्मक धीरता और गम्भीरता के अध्ययन से जो बातें प्राप्त होती हैं वे बातें सीखने से सुनने से भी प्राप्त नहीं हो सकती हैं। जो अनुभवपूर्ण ज्ञान सत्पुरुषों के संग में रहने से प्राप्त होता है वह ज्ञान बड़े-बड़े याद करने से, परीक्षा देने से, सीखने से भी नहीं प्राप्त होता। जैसे- तैरने की कला कोई वचनों से खूब सीखा दे, यों पैर फटकाना, यों हाथ चलाना, यों तैरने की सारी विधियाँ चार छः महीने तक कोई खूब पुस्तकों से अध्ययन करा दे और बाद में परीक्षा करने के लिए उन्हें किसी नदी में ढकेल दे तो क्या वे बच्चे उस नदी में तैरने लगेंगे? कोई कहे मास्टर से कि तुमने क्यों इन बच्चों को पानी में ढकेला? तो वह मास्टर कहेगा- वाह हमने तो इन्हें चार छः माह तक खूब तैरने की कला का अध्ययन कराया। आज इनकी परीक्षा की। अरे भाई तैरने की बात वचनों से नहीं आती, पानी में गिरकर अनेक बार तैरने का अभ्यास करने से तैरने की कला आती है। ऐसे ही रोटी बनाने की कला है। कोई वचनों द्वारा रोटी बनाने की कला खूब सिखा दे और फिर धर दे आटा उसके सामने कि साहब बनाओ रोटी, तो क्या वह रोटियाँ बना लेगा? अरे शब्दों द्वारा रोटी बनाने की कला नहीं आती। ऐसे ही समझ लो- जो बातें बहुत-बहुत वचनों से सिखाने पर भी नहीं सीखी जा सकती वे बातें सज्जन पुरुषों के संग में रहकर सीख ली जाती हैं। उनकी चर्या से, उनके विचारों से, उनकी मुद्रा से जो अध्ययन मिलता है वह अध्ययन एक विलक्षण होता है और चित्त पर सीधा सही प्रभाव करने वाला होता है।

सत्संग से विनयकुशलता का लाभ- सत्पुरुषों के संग से सभी प्रकार की निपुणता प्राप्त होती है। पहिला गुण तो यह अतिशयपूर्वक प्रकट होता है। दूसरा गुण सत्पुरुषों के संग से यह प्राप्त होता है कि विनय में अति प्रवीणता ऐसी हो जाती है जो लौकिक और पारलौकिक दोनों सुखों का कारण बनती है। भावों की विनय कहीं परीक्षा करके सिखाने से तो नहीं आ सकती। यों तो कसरत कहलाने लगेगा। इस तरह सिर नवावो, इस तरह बैठो, इस तरह झुको यह सब तो कवायत है।

विनय नाम तो उस भाव का है जो विशेषरूप से सत्पथ में लग जाय। विनय में दो शब्द हैं- वि और नय। वि तो उपसर्ग है और नय धातु है ले जाने के अर्थ में। जो आत्मा को विशेषरूप हितपंथ की ओर ले जाय उसे विनय कहते हैं। यह विनयभाव उत्पन्न होता है सत्पुरुषों के संग में निवास करने से। जब सज्जनों के गुण चित्त में भी आ जाते हैं और उन गुणों पर विशेष अनुराग जगता है तो उस गुणानुराग के कारण आत्मा में विशेष विनयभाव उत्पन्न होता है। तो विनय में अति प्रवीणता सत्संग से उत्पन्न होती है। भैया ! विनय बिना कहीं सुख न मिलेगा। इस लोक में भी जो पड़ोसियों से, अन्य लोगों से सद्व्यवहार अपने को प्राप्त होता है वह विनय के कारण ही होता है। किसी पुरुष से अविनय से बोलें, अरे आदिक धुतकारने के शब्दों का प्रयोग करें तो उसके एवज में क्या मिलेगा दूसरे से, इसका अनुमान कर लो। दूसरे से अच्छा बोलेंगे तो दूसरे से भी अच्छा बोलने की आशा की जा सकती है। विनय बिना पुत्र भी पिता से सुख नहीं पा सकता, विनय बिना मित्रता भी नहीं रह सकती है। विनय बिना व्यापार भी नहीं चल सकता। लौकिक कार्य भी विनय पर निर्भर है, और मोक्ष का कार्य तो विनय पर अधिक निर्भर है।

विनय के प्रकार व लाभ- विनय 5 प्रकार के कहे गए हैं- ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय, तपविनय और उपचारविनय। ज्ञानी पुरुषों का और ज्ञानभाव का विनय करना ज्ञानविनय है। ज्ञानी पुरुष और ज्ञानगुण का महत्त्व समाया रहे यही महान पुरुष है, यही महानभाव है। ज्ञान से ही इस संसारसागर से तिरा जा सकता है। ज्ञान से ही शान्ति और आनन्द की प्राप्ति होती है। इस प्रकार ज्ञान का विनय रखना, यही है ज्ञानविनय। दर्शनविनय- जो श्रद्धानी जीव हैं, प्रभु के भक्त हैं ऐसे पुरुषों का विनय करना और सम्यग्दर्शन नामक गुण का विनय करना यही है दर्शनविनय। ये जगत के जीव इस निज श्रद्धान को नहीं पा रहे हैं अतएव संसार में रुल रहे हैं। सत्य श्रद्धान प्राप्त हो तो इसका संसार का रुलना समाप्त होगा। यों सम्यक्त्व के गुण चिन्तन में रखना यह सब दर्शनविनय है। जो मनुष्य चारित्र के धारी हैं, जिनका व्रत संयम जीव रक्षा करने वाला है ऐसे व्रती संयमी साधुवों की विनय करना सो चारित्रविनय है। तपश्चरण करने वाले साधु संतों का विनय करना और तप की महिमा जानना सो तप का विनय है। और, यहाँ व्यवहार में एक दूसरे को देख कर उनसे विनय करना उपचार विनय है। जो जीव मोक्षमार्गी मनुष्यों का विनय करते हैं वे अपने आपके उद्धार के लिए विनय करते हैं। ये सब विनय गुण भी सज्जन मनुष्यों के सङ्ग में रहकर प्राप्त किए जाते हैं।

सत्संग के अन्य लाभ- सत्पुरुषों के संग से तीसरा गुण यह अद्भुत प्रकट होता है कि अपने सिद्धान्त में भावों की शुद्धि बनती है। तत्त्व के सम्बन्ध में नि:सन्देहता जगती है। कितनी ही ज्ञान की

बातें ऐसी हैं कि सुन सुनकर उनमें मजबूती नहीं आती। सन्देह बना रहता है और सत्पुरुष के संग में रहने से सन्देह मिट जाता है। और, तत्त्व का ज्ञान सत्पुरुषों के संग रहने से दृढ़तापूर्वक होता है, सन्देहरहित होता है, वहाँ ज्ञानमात्र ग्रन्थों के अध्ययन कर लेने से भी नहीं होता। तो संत मनुष्यों के समागम से ये तीन महागुण प्रकट होते हैं। समस्त विद्यावों में चतुराई आना, विनय में अत्यन्त प्रवीणता बनना ये गुण सत्संग से प्रकट होते हैं।

श्लोक- 795

यथात्र शुद्धिमाधत्ते स्वर्णमत्यन्तमग्निना।।
मन:सिद्धिं तथा ध्यानी योगिसंसर्गवह्निना।।

सत्संग से सिद्धि लाभ- जैसे इस जगत में अग्नि के संयोग से स्वर्ण अत्यन्त निर्मल हो जाता है इसी प्रकार योगीश्वरों की संगतिरूप अग्नि से ध्यानी मुनि अपने धर्म की सिद्धि को प्राप्त हो जाते हैं। स्वर्णमलिन हो तो अग्नि में तपाने से स्वर्ण निर्मल बनता है ऐसे ही जो मलिन मनुष्य है, जो विषयकषायों से मलिन परिणाम रख रहा है ऐसा मनुष्य भी सत्संग में रहकर अपनी मलिनता को छोड़ देता है, सत्संग बिना जीवन क्या, फिर तो जैसे पशु पक्षी का जीवन है, उनका काहे का सत्संग है? वे अपनी गोष्ठी में रहते हैं, विषयकषायों में मग्न रहा करते हैं। तो यह बात पशुवों में भी है, मनुष्यों में भी है, अन्तर क्या पाया? अन्तर तो यह है कि मनुष्य तो सत्संग करता है और पशुपक्षियों में सत्संग नहीं है। मनुष्य गुणी मनुष्यों का समागम करके अनेक विद्यावों का लाभ प्राप्त करता है, मुक्ति का पंथ इस मनुष्यभव से ही प्राप्त होता है। तो सत्संग से सर्व प्रकार के संकट दूर हो जाते हैं, निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है। यद्यपि एक आत्मध्यान के करने से आत्मा में वह पवित्रता जगती है कि मुक्ति प्राप्त होती है। लेकिन आत्मध्यान वह कर सका, ऐसी आत्मध्यान की पात्रता उसे तभी तो जगी जब उसने सत्संग से गुरुजनों से कुछ अनुभव किया, इसके बाद वह आत्मध्यान में निपुण बन सका। तो जितनी भली बातें हैं वे सब सत्संग से प्राप्त होती हैं। जो परिणाम सत्संग में पहुँचने से शीघ्र निर्मल हो जाता है, इस कारण महामनुष्यों के संग का अधिकाधिक ध्यान रखना चाहिए। यह सत्संग ऐसी विलक्षण अग्नि है कि जिस अग्नि का सम्बन्ध पाकर विषयकषायों की मलिनता दूर हो जाती है और यह आत्मा शुद्ध स्वर्ण के माफिक निर्दोष बन जाता है, मनुष्य का धन ही यह है कि वह अपना चारित्र निर्मल रखें, अपने चित्त में विकार न आने

दें, यही मनुष्य का धन है, यह धन यह ब्रह्मचर्य वृद्ध मनुष्यों की सेवा करने से प्राप्त होता है। जिसके ब्रह्मचर्य व्रत नहीं है उसके धर्म के नाम पर किए गए सारे काम व्यर्थ हैं। व्यभिचार की प्रकृति है तो उस मनुष्य को किसी भी धर्म का फल नहीं मिलता। ब्रह्मचर्यमूलक समस्त साधन और इस ब्रह्मचर्य की सिद्धि संत मनुष्यों के समागम से अनायास प्राप्त हो जाती है। यह सत्संग मन की शुद्धि का अद्भुत कारण है अतएव जो ज्ञानी मनुष्य है, संसार, शरीर, भोगों से विरक्त है, जिसका केवल आत्मकल्याण ही ध्येय है, जो आत्मनिरीक्षण का ही सदा उद्यमी रहता है ऐसे मनुष्य की सेवा मिले, संगति मिले, यह एक अद्भुत कार्य है।

श्लोक- 796

भयलज्जाभिमानेन धैर्यमेवावलम्बते।
साहचर्यं समासाद्य संयमी पुण्यकर्मणाम्।।

सत्संग से संयमी का पुण्यलाभ- सत्संग में रहने से मनुष्य बहुत से पापों से बच जाता है। कदाचित् तीव्र का पाप का उदय आ जाय, परिणाम बिगड़ने लग जाय तो भी सत्संग में रहने से भय, लज्जा, स्वाभिमान आदि के कारण वह अनेक पापों से दूर हो जाता है। वह सोचता है कि इस महान संगति में रहकर यदि मैं खोटा कार्य करूँ तो यह मेरे लिए धिक्कार की बात होगी। लोग मुझे तिरस्कृत कर देंगे। यों पापों के करने से उसे लज्जा आती है। वह लज्जावश, अपने गौरववश अनेक पापों से दूर हो जाता है। मेरी प्रतिष्ठा हैं, लोग मुझे यों मानते हैं, यदि मैं कोई खोटा कार्य करूँ तो इसमें मेरी हँसी होगी। तो सत्संग में रहकर लज्जा, भय, स्वाभिमान आदि के कारण वह अनेक पापों से दूर हो जाता है। तथ्य तो यह है कि सत्पुरुषों की प्रवृत्ति को निरखकर दिल पर इतना उच्च असर पहुँचता है कि यह पापों से हटकर धर्म के कार्यों में अपने आप लग जाता है। तो सत्संग एक महान गुण है जिससे आत्मा की उन्नति बनती है, हम जितने भी धर्म के लिए कार्य करते हैं वे सभी सत्संग ही तो है। सत्संग में सबसे प्रधान हैं अरहंतदेव, प्रभु सर्वज्ञदेव। जो प्रभु की भक्ति करता है, भगवान के गुणों में अनुराग करता है उसने एक महान सत् का आलम्बन लिया है। वह है परम सत्संग। जो सत् मनुष्य आत्मशुद्धि के कार्य में लग रहे, वह भी सत्संग है। जब कभी

बड़े मनुष्य संग के लिए न प्राप्त हों तो अपने ही पड़ोस में, अपनी ही मण्डली में जो मनुष्य हों उनका संग अपन विशेष करें। वह संग सत्संग है, सत्संग का चित्त पर अत्यन्त अधिक प्रभाव पड़ता है। उन्नति ही सत्संग से होती है, इसी का नाम है वृद्धसेवा। जो वृद्ध मनुष्य हों, ज्ञानचारित्र में बढ़े हुए हों, जो हित का उपदेश कर सकते हैं, जो हमें हित की राह बता सकते हैं ऐसे मनुष्यों की विनय करना, सेवा करना, संगति करना सो सब सत्संग है। सत्संग से आत्मा के गुणविकास की प्राप्ति होती है।

श्लोक- 797

शरीराहारसंसारकामभोगेष्वपि स्फुटम्।
विरज्यति नर: क्षिप्रं सद्भि: सूत्रे प्रतिष्ठित:।।

सत्संग से वैराग्यलाभ- सत्संग के द्वारा सूत्र में बताये हुए, शिक्षित किए हुए मनुष्य की शरीर आहार संसार काम और भोग आदिक से तत्काल विरक्ति हो जाती है। कोई मनुष्य शरीर से वैराग्य रख रहा है तो ऐसी बुद्धि उसे मिली कहाँ से? उसने बचपन में गुरुवों का सत्संग पाया, विद्याभ्यास किया तो उस ही की परम्परा से बुद्धि विकसित हो गयी और यह भान हुआ कि शरीर जुदी चीज है, मैं आत्मा जुदा पदार्थ हूँ। शरीर के सम्बन्ध से, शरीर के राग से आत्मा में कलंक बढ़ता है और उनसे ऐसे पापों का बन्ध होता हैं जिससे अनेक अनेक दुर्गतियों में उत्पन्न होना पड़ता है। यह बुद्धि उसे जगी कब? जब कि सत्संग में रहा आया और उससे कुछ शिक्षा पायी। कामभोगों में, विषयभोगों में अरुचि बनी ज्ञानी के तो यों ही जन्मते तो नहीं बनी। जो भी मनुष्य धर्मात्मा बनते हैं वे जन्म से ही तो नहीं बनते। जब उन्हें गुरुजनों का सत्संग मिलता है, उनका धर्मोपदेश मिलता है, तो उसके प्रभाव से वे धर्मात्मा बनते हैं। दो भाई थे, जिनमें एक भाई तो साधु हो गया, छोटे भाई का विवाह हो गया। वह भाई सपत्नी रहता था। उसके यहाँ एक दिन एक साधु का आहार हो गया, वह साधु उसका बड़ा भाई ही था। तो आहार होने के पश्चात् छोटा भाई अपने भाई मुनि को पहुँचाने के लिए गया तपोवन में, तो वहाँ उस छोटे भाई ने देखा कि इस बड़े भाई का तो बड़ा आदर हो रहा है। वह सोचता है कि यदि मैं यहाँ से लौट जाऊँ तो इसमें मेरी तौहीन होगी, लोग कहेंगे कि इनका यह छोटा भाई कैसा है? तो वह भी वही रुक गया और साधु दीक्षा वही ले ली। जब दसों वर्ष व्यतीत हो गए तो एक दिन उसके चित्त में आया कि मैं अपनी नवविवाहिता पत्नी को

छोड़कर चला आया था, पता नहीं अब वह कहाँ क्या करती होगी? तो एक दिन उसी नगर में वह छोटा मुनि गया तो वहाँ जो पहली हवेली थी वहाँ देखा कि उस स्थान पर जिनमन्दिर बना हुआ है, स्वाध्यायशाला बनी हुई है, वहाँ तो सारी काया पलट है। एक स्त्री स्वाध्याय कर रही थी। मुनि ने पूछा कि यहाँ फलाने रहते थे ना? उनकी स्त्री थी ना, जिसे वह विवाह होने के थोड़े दिन बाद ही छोड़कर चले गये थे? वह स्त्री कहाँ किस प्रकार से रहती है? तो वह वही खुद की स्त्री थी। तो स्त्री बोली, महाराज आपको साधु हुए दसों वर्ष हो गए पर आपके चित्त ये अभी यह शल्य नहीं हटी। अरे वह स्त्री आपकी मैं ही हूँ। और, मैंने ब्रह्मचर्य का व्रत लिया है और सारा जीवन स्वाध्याय पूजन ज्ञान में लगाती हूँ। तो देखो उस स्त्री का भी उस समय सत्संग कहलाया जिसने शल्य हटा दी, यों दोनों का उद्धार हो गया। तो सत्संग से जो विरक्ति प्राप्त होती है वह विरक्ति अनेक शिक्षा देने से भी नहीं प्राप्त होती। सारा सुख वैराग्य का है, जितना राग हटा हुआ होगा उतना ही इस जीव को सुख है और जितना राग माह लगा हुआ होगा उतना ही यह जीव क्लेश में है। ऐसा जानकर हम देवपूजा, गुरुसेवा, सत्संग इन कार्यों में अपना उपयोग लगायें और अपने को निर्दोष बनायें, प्रसन्न रखें और अगले भव में भी हमें धर्म का वातावरण मिलें ऐसा ही यत्न रखें। धर्म ही वास्तव में एक शरण है, वह न छूटे बाकी जो पदार्थ जैसा परिणमता है उसके हम ज्ञाता रहें, उसमें ममता न बनायें, अपनी रुचि धर्मपालन की बनायें।

श्लोक- 798

यथा यथा मुनिर्धत्ते चेत: सत्संगवासितम्।
तथा तथा तपोलक्ष्मी: परां प्रीतिं प्रकाशयेत्।।

सत्संग से तपोलक्ष्मी का प्रसाद- साधु संतजन जैसे जैसे अपने चित्त को सज्जन पुरुषों की संगति में लगाते हैं वैसे ही वैसे तपरूपी लक्ष्मी का प्रकाश करती है। तपस्या की प्रभावना तपस्वी संतों के संग में रहकर होती है। जैसा संग मिलता है वैसा ही भाव बनता है। जिन्हें खोटा संग मिलता है उनका खोटा भाव बनता है, जिनका भला संग बनता है उनका भला भाव बनता है। संगति से गुण उत्पन्न होते हैं और संगति से ही अवगुण उत्पन्न होते हैं। सज्जनों का संग मिले तो उससे गुण उत्पन्न होते हैं। जैसे फूलों की संगति से कीड़ा भी सज्जन पुरुषों के सिर पर आ बैठता है। कीड़ा फूल में अन्दर छिपकर बैठ जाता है तो उस फूल के संग से वह कीड़ा भी राजा

महाराजावों के गले पर आ जाता है। जो मनुष्य तपस्वीजनों के संग में रहते हैं वे उनके तपश्चरण को निरखकर खुद में ही तपश्चरण का भाव जगा लेते हैं। सत्संग की महिमा बतायी जा रही है। लोक में सत्संग का बहुत बड़ा शरण होता है। एक तो वैसे ही अनादिकाल से मोह रागद्वेष की वासना से दु:खी हैं, और फिर अगर सत्संग मिल गया तो विचार शुद्ध बनते हैं। ये जगत के प्राणी एक तो स्वयं दु:खी हैं, पीड़ित हैं, इनमें अज्ञान फैला हुआ है, और मिल जाय अज्ञानियों का संग तो उससे यह जीव बरबाद हो जाता है। अग्नि एक शुद्ध तत्त्व है, उसको पीटने की कोई जरूरत नहीं है, लेकिन लोहे का संग पाकर अग्नि भी पीट जाती है। अकेली आग को कौन पीटेगा। लोहे का संग पाया तो अग्नि भी पीट गई। तो खोटा संग पाने से खोटी आदत बनती है और भला संग पाने से भली आदत बनती है। जो मनुष्य बचपन से कुसंग में पड़ जाता है तो प्राय: जीवनभर उस आदत का मिटाना कठिन है, इससे मनुष्य को अपने बचपन से ही सत्संग का ध्यान रखना चाहिए।

श्लोक- 799

न हि भवति निर्विगोपकमनुपासितगुरुकुलस्य विज्ञानम्।
प्रकटितपश्चिमभागं पश्यत नृत्यं मयूरस्य।।

गुरुसङ्गसेवा बिना विज्ञान की विडम्बितता- सही मायने में ज्ञान की प्राप्ति गुरु से होती है। जैसे कोई बातें पुस्तक में लिखी हैं और उस पुस्तक को भी पढ़कर ज्ञान कर लिया जाता है, पर जो ज्ञान गुरुमुख से सुनकर जैसा अनुभव के साथ जगता है वह ज्ञान अपने आप यों ही सीख लेने से नहीं जगता, कितने ही अनुभव ऐसे होते हैं कि जिन्हें दूसरा कोई प्रकट ग्रहण नहीं कर सकता। गुरुवों के संग में रहकर, गुरुवों की सेवा करके उन तत्त्वों का मर्म प्राप्त होता है। बड़े-बड़े व्याख्यानों से भी जो दृष्टि न बन सके गुरुवों के संग में रहकर किसी भी समय साधारण वाक्यों में भी उस मर्म की झलक हो जाती है। जो पुरुष गुरुकुल की उपासना नहीं करते अर्थात् गुरुवों के समूह के बीच नहीं रहते, उनका ज्ञान करना चाहते हैं तो उनकी ज्ञानकला, उनकी चतुराई प्रशंसा के योग्य नहीं रहती। भले ही एक जानकारी की कला आ गयी। पर सही मायने में नहीं आ सकती। जैसे नाचने की एक कला होती है। कोई किसी समझदार से सीखे और कोई अपने आप सीखे तो उसमें तो कुछ अन्तर होता है ना? एक मोटा दृष्टान्त ले लो। मयूर नाचता है तो वह कहीं सीखने तो नहीं जाता है, सो देखा होगा कि मोर जब नाचता है तो थोड़ा उसकी मुख की तरफ तो अच्छा लगता है

और पीछे कैसा बुरा लगता है? तो नृत्य करने का विधान कोई शास्त्रानुकूल सुन्दर श्रृंगार सहित न सीखे तो उसका नृत्य प्रशंसनीय नहीं होता। ऐसे ही समझिये कि तपस्वी अनुभवी गुरुजनों के निकट रहकर सीखे बिना जो क्रिया की जाय वह विधिवत् ठीक नहीं होती। अपने को विशेष ज्ञानी मनुष्यों के संग में रहकर ही विद्या सीखना चाहिए। अपने आप सीखी हुई विद्या में उसका ठीक मर्म अनुभव में नहीं आ पाता।

गुरुसंगप्रसाद बिना अनुभवी विज्ञान का अलाभ- एक शिष्य ने गुरु से लाठी चलाना सीखा। लाठी चलाने की अनेक कलायें होती हैं जैसे सीधी, चौमुखी, जंग आदि। जब सारी कलायें सीख ली तो शिष्य को कुछ घमण्ड आया और उस गुरु से ही बोला कि गुरुजी हम तो आपसे लडेंगे। भला बतावो गुरु तो वृद्ध पुरुष और वह शिष्य नवयुवक कहने लगा कि हम तो तुमसे ही लाठी से लडेंगे। तो गुरु बोला कि अच्छा भाई लड़ लेना। 15 दिन की मोहलत दे दो, 15 दिन के बाद अमुक दिन दोपहर को लाठी लेकर आ जाना। अब वह शिष्य सोचता है कि 15 दिन में गुरुजी क्या करेंगे, इसे देखना चाहिए। गुरुजी ने क्या किया कि एक 15-16 हाथ का मोटा बांस अपने दरवाजे पर रख लिया और उसे रोज रोज खूब साफ करे, खूब तेल लगाकर उसे चिकना बनाये। शिष्य यह दृश्य देखकर सोचता है कि गुरुजी ने 15-16 हाथ का डंडा रखा है सो मैं इनसे दूना लगभग 30-32 हाथ का बांस रखूँगा। रख लिया बांस। जिस दिन लड़ाई का समय आया उस दिन शिष्य अपना 30-32 हाथ का बाँस लाया और गुरुजी अपनी वही 3।। हाथ की लाठी लेकर आये। अब वह उतना लम्बा बाँस कैसे उठाये, कैसे घुमाये, क्या करे? आखिर गुरुजी ने अपनी लाठी से उसे परास्त कर दिया। तो विद्याएँ सीखी तो जाती है पर छोटे से छोटे अनेक नुक्ते जो एक मर्म को लिए हुए होते हैं वे तो अनुभव से ही प्राप्त होते हैं। पुस्तकें बहुत सी हैं जिनसे अनेक विद्याएँ सीख ली जाती हैं, पर मास्टर से, गुरु से, साधु संतों से जो विद्या प्राप्त होती है वह अनुभवपूर्ण होती है। हमारा कर्तव्य है कि हम किसी भी बड़े को, संत को जिससे अपना हित हो, विद्या मिले, आत्मलाभ हो, कलायें ज्ञात हों उनके संग में रहें, उनकी उपासना करें और ज्ञानार्जन करें। लोक में ज्ञान से बढ़कर और कुछ भी सुखदायी तत्त्व नहीं है, खूब विचारते जाइये। ये लोक के प्राणी क्यों अपने आपको दु:खी अनुभव कर रहे हैं? सभी मनुष्यों को देख लो- जिनके बड़े-बड़े ठाठ हैं वे भी अपने आपको कैसा दु:खी अनुभव करते हैं, ऐसी सब की हालत हो रही है। तो वह दु:ख है क्या? केवल एक कल्पना बनाया उसका दु:ख है। आपसे भी बहुत ज्यादा कल्पना बनायी उसका दु:ख है। आपसे भी बहुत ज्यादा दु:खी हजारों और लाखों पुरुष होंगे, पर यह अनुभव नहीं किया जा रहा है कि हम कितना सुखी हैं, कितना हम अच्छे वातावरण में हैं? सुख शान्ति धन वैभव से तो नहीं मिलती, अगर सम्यग्ज्ञान का अभाव है तो सुख शान्ति कहाँ से मिले? यहाँ क्लेश मिटाने का अन्य कोई

उपाय नहीं, अगर एक ज्ञान है तो क्लेश मिट सकता है। जिस क्षण कभी भी अपने को एक निर्विकल्प ज्ञानस्वरूप का अनुभव बन जायेगा तो समझो कि सब कुछ पाया नहीं तो सब कुछ खोया ही समझिये। महत्त्व आंकने की बात है।

ज्ञानी का ज्ञानमग्नता में कल्याणलाभ का निश्चय- एक यह दृष्टि बन जाय कि महत्त्व तो अपने आपको ज्ञानमग्न कर लेने की स्थिति का है। बाकी सब मायाजाल है और जो कुछ यह विचार कर रहा वह भी सब मायाजाल है। उसमें शान्ति नहीं बसी है। शान्ति तो मिलेगी, बाहरी विकल्प छूटें और अपने आपका एक ज्ञानमात्र अनुभव बने, मैं तो सिर्फ ज्ञानप्रकाशरूप हूँ, इतना भी विकल्प न उठाऊँ किन्तु ऐसा अनुभव बन जाय तो शान्ति उस पद में मिलेगी, ऐसा दृढ़ निर्णय होना चाहिए। चाहे कुछ भी करना पड़े किन्तु ज्ञान कमजोर न होना चाहिए। बड़े-बड़े साधु संतों का ज्ञान और गृहस्थों का ज्ञान तो एक सा ही होता है सिर्फ अन्तर यह रहता कि साधु संत तपश्चरण ज्यादा करते हैं, संयम ज्यादा करते हैं। उन्हें प्रभुभक्ति के लिए आत्मध्यान के लिए समय भी मिलता है, गृहस्थ की ये हर बातें कम कम हैं, पर ज्ञान की दृष्टि से जैसा ज्ञान बड़े तपस्वी का है वैसा ही ज्ञान गृहस्थज्ञानी का भी है। ऐसा नहीं है कि साधु तो यह समझे कि आत्मा आनन्दरूप है और गृहस्थ यह समझे कि आत्मा को आनन्द विषयों से आता है। ज्ञान तो दोनों का एक सा है, यदि अपने निज अन्तस्तत्त्व की श्रद्धा दृढ़ता से रहे तो यही एक मात्र सार है। इतनी स्पष्टता आ सके तो जीवन सफल है। फिर चाहे कैसी ही स्थिति गूजरों बाहर में, उसका कुछ भी महत्त्व नहीं है। ये सब बातें प्रयोगात्मकरूप से, सत्पुरुषों के संग से पायी जाती है, ऐसे सत्पुरुषों के संग में रहने से सब मर्म स्पष्ट अनुभव में आते हैं।

श्लोक- 800

तप: कुर्वन्तु वा मा वा चेद्वृद्धान्समुपासते।
तीर्त्वा व्यसनकान्तारं यान्ति पुण्यां गतिं नरा:।।

वृद्धसेवा से पुण्यगति का लाभ- सत्संग करना यह एक बड़ा तपश्चरण है। जो मनुष्य शारीरिक शक्ति से हीन हैं, व्रत नियम तपश्चरण अधिक नहीं कर पाते हैं किन्तु सत्संग की रुचि है, सत्संग में पड़े रहते हैं तो उस सत्संग की उपासना से वे पुरुष चाहे तप कर सकें अथवा न कर सकें लेकिन दु:खरूपी वन को पार करके नियम से अटल गति में पहुँच जाते हैं। एक सत्यदृष्टि से

बात सोचें कि आत्मा का सुख, आत्मा का कल्याण, ज्ञानी संत मनुष्यों के संग से प्राप्त हो सकता है। परिजनों के संग में रहने से उनसे मोहममता करने से तो क्लेश है, दुर्गति है। और, जो ज्ञानी संत तपस्वी जन हैं उनकी संगति से सत्यप्रकाश मिलेगा, अपने शुद्ध पथ पर लगने की प्रेरणा मिलेगी, अनेक कर्म कटेंगे, भविष्य अच्छा बनेगा, लेकिन मोह में यह बात कहाँ सूझती है? जो संग हमारे कष्ट का ही कारण बनेगा, बन रहा है वह संग तो मोह में रुचता है और जो संग हमारे कष्ट का निवारण कर सके ऐसा ज्ञानी संतों का संग मोहियों को नहीं रुचता है। लोग परिजनों का महत्त्व देते हैं। पर सत्संग का महत्त्व नहीं देते।

असद्रुचि में सत्संग महत्त्व की उपेक्षा- देखिये- जिसकी जहाँ रुचि जग गयी है वह वहाँ ही प्रसन्न रहना चाहते हैं। दो सहेली थी, एक थी मालिन की लड़की और एक थी ढीमर की लड़की। उनमें बड़ी मित्रता थी। तो मालिन की लड़की किसी बड़े कस्बे में ब्याही गयी, उसका काम था फूल चुनना, फूलों का हार बनाना और शय्या सजाना। ढीमर की लड़की ब्याही गई किसी तालाब के निकट एक छोटे से ग्राम में। उसका काम था मछलियाँ पकड़कर बेचना। उनकी गंदी हवा में रहना। एक दिन ढीमर की लड़की उस कस्बे में गई मछलियाँ बेचने। जब शाम हो गयी तो सोचा कि आज रात को अपनी सहेली के घर ठहर जाये और सबेरा होते ही चली जायेंगी। सो जब वह मालिन की लड़की के घर पहुँची तो उसने अपनी सहेली का बड़ा आदर किया। शाम को भोजन कराने के बाद बिस्तर लगा दिया, सुन्दर फूलों से सजा दिया। ढीमर की लड़की जब वहाँ लेटी तो उसे नींद न आये। मालिन की लड़की पूछती है क्यों सहेली नींद क्यों नहीं आती? तो वह ढीमर की लड़की कहने लगी, सहेली क्या बताऊँ, यहाँ फूलों की बदबू इतनी है कि उसके मारे नींद नहीं आती। तो सहेली क्या करूँ? इन कपड़ों को बिल्कुल बदल दो, दूसरे कपड़े इसमें बिछा दो, फूलों को बिल्कुल हटा दो, तब नींद आयगी। उसने वैसा ही किया तब भी उसे नींद न आये। तब फिर वह मालिन की लड़की पूछती है सहेली अब क्यों नींद नहीं आ रही? तो वह बोली- सहेली यहाँ तो सारे कमरे में फूलों की बदबू भर गई है, अब काम यह करो कि वह जो मछलियों का टोकना रखा है उसमें थोड़ा पानी छिड़कर मेरे सिरहाने रख दो तब नींद आयगी। उसने वैसा ही किया। जब मछलियों की बदबू उसे मिली तब नींद आयी। ऐसे ही समझ लो जो मोही अज्ञानी मलिन लोगों के बीच में रह रहे हैं उन्हें वे ही रुचते हैं, उन्हें ज्ञानी संत मनुष्य का संग नहीं रुचता है।

ज्ञान की परमशरणरूपता- इस जीव का वास्तव में ज्ञान ही शरण है। ज्ञानी तपस्वी मनुष्यों की संगति करके वह ज्ञान प्राप्त होता है। उनके निकट बैठने से सारे विषयों के विचार बदल जाते हैं। ज्ञानी साधु संतों की संगति में रहने वाले के ऐसा उत्साह जगता है कि मैं अपनी पूर्ण शक्ति

लगाकर इन विषय विपदाओं से निवृत्त होऊँ और अपने सहज ज्ञानस्वरूप की आराधना में लगूँ। इतना प्रबल प्रभाव सत्संग से हुआ करता है। सर्वविकारों में खोटा विकार है काम विकार। यह कामव्यथा इस जीव को ऐसी पीड़ित करती है कि काम में आसक्त मनुष्य आत्मध्यान का, आत्मज्ञान का पात्र भी नहीं रह सकता है। संसार में हम आप सब जीवों को एक अपने आत्मतत्त्व का ध्यान ही शरण है। किसी भी पदार्थ की शरण में जावो, सबसे धोखा ही मिलेगा। किसका संग सदा रहा करता है? स्त्री, पुत्र, मित्र आदि ये सब खूब मिल-जुलकर रहें, पूर्ण प्रेम से भी रहें फिर भी उसका महत्त्व क्या? प्रथम तो ऐसा होना कठिन है कि सदा मित्रता किसी से रह सके। कषाय के प्रतिकूल कुछ भी बात आये तो जरासी बात में बिगाड़ हो सकता है, और फिर मान लो रही आये मित्रता लेकिन मरण तो अवश्य होगा, वियोग तो जरूर होगा। वियोग के समय में उससे भी अधिक दु:ख होगा जितना कि प्रेम माना था तो संसार में किसी के भी निकट जावो, किसी का भी शरण गहो, सब जगह धोखा मिलेगा, अशान्ति मिलेगी। और एक प्रयोग करके देख लो, अपने अन्दर में साहस बनाकर निरख लो मुझे किसी भी परवस्तु से कुछ प्रयोजन नहीं है। सभी परपदार्थ मेरे स्वरूप से अत्यन्त जुदे हैं। मैं इस समय अपने आपके ज्ञानस्वरूप की आराधना में ही लगता हूँ, किसी भी परमार्थ का विकल्प नहीं करता, ऐसा दृढ़ निर्णय और संकल्प करके जरा भीतर ही भीतर अपने अन्दर प्रवेश करते जायें। बाहर की सब सुध भूल जायें, तो अपने में जब ज्ञानप्रकाश का अनुभव होगा तब विदित होगा कि बस परमार्थ तत्त्व तो यही है। आनन्दमयी कर्तव्य करने का तो यह है, शेष सब मायाजाल हैं, ये सब बातें ज्ञान से ही प्राप्त होती हैं। वह ज्ञान ज्ञानी संत मनुष्यों का संग करने से प्राप्त होता है। ज्ञानी संत मनुष्यों के संग करने से सारे दुर्विचार खतम हो जाते हैं। अपने स्वार्थ के लिए, अपने इन्द्रिय सुख के लिए विचार बनाना वे सब दुर्विचार हैं और अपने सहज ज्ञानस्वरूप के अनुभव के लिए विचार बनाना सो सद्विचार है। ऐसे सद्विचार वाले मनुष्यों के समागम से ये सब कार्य सहज होने लगते हैं। अतएव सत्संग करना, वृद्धसेवा करना यह एक परम तपश्चरण है। हमारे जीवन में अधिकाधिक सत्संग का लाभ हो ऐसी भावना रखना चाहिए और ऐसा ही उद्यम करना चाहिए। एक कवि ने लिखा है कि हे कल्याणार्थी मनुष्यों ! यदि तुझसे तपश्चरण नहीं बनता तो मत कर किन्तु एक सद्विचार मात्र से ये कषाय बैरी जीते जा सकते हैं, तो तू इतना विचार तो बना। ज्ञान से सब संकट दूर होते हैं तो ज्ञान के करने में भी कुछ क्लेश है क्या? सही सही पदार्थों का ज्ञान कर ले तेरे सारे संकट दूर हो जायेंगे। संकट लगा है मोह का, पर सही ज्ञान बनाने से संकट दूर हो जाते हैं। इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए सत्संगति का यत्न करना चाहिए।

श्लोक- 801

कुर्वन्नपि तपस्तीव्रं विदन्नपि श्रुतार्णवम्।
नासादयति कल्याणं चेद्वृद्धानवमन्यते।।

वृद्ध पुरुषों के अवगमन से कल्याणलाभ की असंभवता- यदि कोई मनुष्य सत्पुरुषों का अपमान करता है, संतों की आज्ञा में नहीं रहता है तो वह मनुष्य चाहे बहुत तप भी करे, चाहे बड़े-बड़े शास्त्रों का ज्ञान भी कर ले परन्तु कल्याण प्राप्त नहीं कर सकता। लोक में परमपद 5 हैं। उन पदों में जो स्थित होते हैं उन्हें परमेष्ठी कहते हैं। संसार के प्राणी विषय कषायों के ध्यान में चल रहे हैं, नाना शरीर धारण करके दु:ख भोग रहे हैं। ऐसे ये प्राणी क्या कर्तव्य करें कि इनका दु:ख दूर हो जाय? वह कर्तव्य जिन्होंने किया है उनको ही परमेष्ठी कहते हैं। लोक में नमस्कार करने योग्य कौन है? इस पर विचार करें तो मन यह कह बैठेगा कि जिसमें दोष तो एक भी न हो और गुण पूरे हो वे नमस्कार करने के योग्य हैं। क्या जिनके ऐब हैं वे भी नमस्कार किए जाने चाहिए? मन तो यही कहेगा कि ऐब वाला पुरुष नमस्कार के योग्य नहीं है। जिसमें अवगुण न हों, पूर्ण गुण प्रकट हो गए हों, वही तो नमस्कार करने के योग्य है। तो नमस्कार के योग्य वह आत्मा है जिसके दोष एक न हो और गुण पूरे विकसित हो। यह नमस्कार किए जाने वाले पुरुषों की परिभाषा है। यहाँ भी लोक में हम उसका आदर करते हैं जिसमें ऐब कम हों और गुण ज्यादा हों। यहाँ ऐसा मनुष्य कोई न मिलेगा जिसमें अवगुण रंच भी न हों और पूरे गुण हों। जिसमें पूर्ण गुण प्रकट हो जाते हैं और दोष एक भी नहीं रहते हैं उस ही का नाम परमात्मा है। परमात्म में दो शब्द हैं- परम और आत्मा। परम का अर्थ है उत्कृष्ट और आत्मा मायने जीव। जो उत्कृष्ट जीव है, जिसमें गुण पूर्ण प्रकट हो गए हैं, अवगुण एक भी नहीं रहे ऐसे आत्मा को परमात्मा कहते हैं। तो नमस्कार करने के योग्य सर्वोत्कृष्ट है परमात्मा। अब यहाँ देखिये कि आत्मा में गुण क्या हुआ करते हैं, और अवगुण क्या हुआ करते हैं, जो गुणों में पूर्ण बन जाय और अवगुण एक न रहे सो परमात्मा कहा जाय। तो आत्मा के गुण हैं ज्ञान, श्रद्धान, चारित्र, आनन्द और आत्मा के अवगुण हैं मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, विषयों का अनुराग और इनका ही विस्तार बढ़ाते जाइये। किसी से ईर्ष्या करना, किसी से छल करना, मायाचार करना, परिग्रह का लालच रखना, असद्व्यवहार करना, असत्यसम्भाषण करना ये सारे अवगुण कहलाते हैं। तो जिसमें अवगुण तक न हों और गुण समस्त हों उसे कहते हैं परमात्मा। सर्वोत्कृष्ट नमस्कार के योग्य है परमात्मा।

सत्संग किये जाने योग्य संतों का विवरण- यहाँ संतों की परिभाषा की जा रही है। सबसे उत्कृष्ट संत हैं भगवान, पर भगवान शब्द विशेष है अतएव उनमें संत का व्यवहार नहीं करते संत का सही अर्थ है अच्छा, उत्तम। परमात्मा की पूर्ण अवस्था और एक परमात्म अवस्था ऐसी दो अवस्थायें होती हैं। कोई भी गृहस्थ यहाँ हम आपमें से जो आजकल तो उत्कृष्ट अध्यात्मसाधना नहीं है, पूर्वकाल में थी, कुछ विवेक पाकर ज्ञानरूप से आद्र होकर जब एक आत्मसाधना के लिए ही उत्सुक हो जाता है तो उसे बाहरी चीजों की सुध नहीं रहती। घर बार छोड़कर और समस्त श्रृंगार, आभूषण, वस्त्र आदि त्यागकर केवल शरीर मात्र रहकर एक अपने अन्त:विराजमान आत्मा का ध्यान किया करता है, इस साधना का नाम है साधुता। जो ऐसा एकचित्त होकर पर से विरक्त होकर अपने आपके ज्ञानस्वरूप की साधना करता है उसका नाम है साधु। साधुजन सुख दु:ख, सम्मान अपमान इनमें समताभाव धारण करते हैं। साधुवों की दृष्टि में न कोई शत्रु है, न कोई मित्र है, सब जीवों के प्रति एक समान दृष्टि रहती है। ऐसे साधु जहाँ अनेक हो जाते हैं तो उन साधुवों में व्यवस्थापक एक बनाना पड़ता है जिसे आचार्य कहते हैं। जो सब साधुवों की साधना देखे, और उनसे कोई अपराध बने तो उनका प्रायश्चित्त दे, दण्ड दे, उनको शुद्ध करे, ऐसी जिनमें महिमा होती है उन्हें कहते हैं आचार्य। और, उन सब साधुवों में जो विशेष विद्वान होते, जिन्हें आचार्य पढ़ाने का काम सौंपते हैं उन्हें कहते हैं उपाध्याय। यों मुनियों में ये तीन प्रकार के उत्कृष्ट पद है- साधु उपाध्याय और आचार्य। ये सब साधु जिन्हें किन्हीं बाह्यवस्तुवों से कुछ प्रयोजन नहीं रहा, केवल एक आत्मसाधना में ही रत रहा करते हैं उनमें से जिस साधु ने परमसमाधि धारण कर ली, अपने आत्मरस में गुप्त हो गया, और विलक्षण आत्मीय आनन्द का अनुभव किया वह मनुष्य चारघातिया कर्मों का नाश करके परमात्मा बन जाता है। इन सब परमेष्ठियों की उपासना सत्संग है।

अपराधक के कारणभूत कर्मों का विवरण- देखिये प्रत्येक जीव के साथ 8 प्रकार के कर्म लगे हैं, जिनमें ज्ञानावरण नाम के कर्म के कारण ज्ञान ढका हुआ है। देखिये जीवों में नाना तरह के ज्ञान पाये जाते हैं, किसी में कम हैं, किसी में विशेष हैं। तो ये जो थोड़े बहुत ज्ञानभेद मालूम होते हैं यह एक कर्म की उपाधि का प्रभाव है, नहीं तो हम आप सब आत्मा ज्ञानस्वरूप ही तो हैं। ज्ञान ही तो इनके पड़ा है, ज्ञान के सिवाय इसका और रूपक क्या है? जो ज्ञान नहीं है वह पूर्ण ज्ञानी नहीं रहा, इसमें कोई कारण तो होगा, वह कारण है कर्म का उदय। एक दर्शनावरण नाम का कर्म हैं, इस कर्म के कारण यह आत्मा अपने आत्मा का दर्शन नहीं कर सकता। जैसे हम बाहरी चीजों को समझ पाते हैं। इस प्रकार हम अपने आत्मा की समझ नहीं कर पाते। एक वेदनीय कर्म है जिसके कारण जीव सुख दु:ख बनाया करता है। जब साता का उदय होता है तो जीव को सुख के साधन मिलते हैं और उसमें जीव सुख मानता है, और जब असाता का उदय होता है तो जीव दु:ख

मानता है, मोहनीय कर्म के उदय से यह जीव पर में मोहित होता है। देखिये- पर बिल्कुल न्यारी चीज है, अलग जगह हैं, स्त्री हो, पुत्र हो, मित्र हो, धन वैभव हो, ये सब बिल्कुल न्यारी चीजें हैं, अपने आत्मा से वैभव का क्या सम्बन्ध? कोई वैभव को चिपकाकर लाया है क्या? घर की जगह घर पड़ा है, कुटुम्ब की जगह कुटुम्ब है, आप तो अपने शरीर में अकेले हैं, कोई सम्बन्ध भी है क्या? शरीर तक से तो सम्बन्ध नहीं है, अन्य वैभव से तो सम्बन्ध क्या होगा, लेकिन अत्यन्त न्यारे ये परपदार्थ है, उनमें इस जीव को मोह पैदा होता है, उनमें राग करता है, द्वेष करता है जीव। यह सब मोहनीय कर्म का प्रभाव है। जीव के साथ आयु कर्म लगा है, जितनी जिसकी आयु है उतने समय तक यह जीव इस देह में बना रहता है। जब आयु का अन्त होता है तो यह जीव इस देह को छोड़कर चला जाता है। जीव के साथ नामकर्म लगा है जिसके कारण अन्य-अन्य चित्र विचित्र शरीर प्राप्त हो जाते हैं। एक गोत्र कर्म है जिससे लोक व्यवहार में कोई उच्च कुल का, कोई नीच कुल का कहलाता है। ऊँच नीच कुल में जन्म होता है। अन्तराय कर्म के उदय से विघ्न आया करते हैं। कोई चीज प्राप्त हो रही हो, अन्तराय आ जाय, दान देने का भाव न हो सके, भोग उपभोग करने की शक्ति न आ सके, अपने आपकी शक्ति बिगड़ती जाय, यह सब अन्तराय के उदय से होता है। तो ऐसे कर्मों से आवृत्त यह जीव है।

कर्मावृत जीव के अकल्याण व कल्याण की विधि- कर्मावृत इस जीव को कल्याण मिले उसका उपाय क्या है, उसका उपाय सर्वप्रथम तो यह है कि संत मनुष्यों की आज्ञा में रहें। लोग मोहवश जितनी आज्ञा स्त्री की मानते हैं उतनी आज्ञा क्या किसी साधु की कोई मानता है? खूब सोच लो। कितना श्रृंगार करना, गहने बनाना, तिस पर भी चाहिए ऊपर से अपने पोजीशन की वजह से स्त्री के हाथ नहीं जोड़ते, मगर अन्दर से इतना नम्र रहते हैं कि मानो हाथ जोड़े ही बने रहते हैं। तो जितने मोही जीव हैं वे स्त्री की आज्ञा में अधिक रहते हैं, उसे वे अप्रसन्न नहीं देख सकते, उनके दु:खी हो जाने पर आप खुद दु:खी हो जाते हैं, पर यह बतलावो कि इन परिजनों की आज्ञा में बने रहने से इसको लाभ क्या हुआ अब तक? न परिणामों में बल मिला, न आत्मा में कोई प्रभाव की बात जगी, न शान्ति का उदय हुआ। जितना दु:खी 10-20 वर्ष पहिले थे उससे भी और ज्यादा दु:खी आज मालूम पड़ते हैं, यह मोही जीवों की आज्ञा शिरोधार्य करने का ही तो फल है। सर्वप्रथम जिन्हें कल्याण चाहिये हो उन्हें आवश्यक है कि वे सत्पुरुषों की अवज्ञा न करें और उनकी आज्ञा में रहें। जो मनुष्य सत्पुरुषों की आज्ञा में नहीं रहता उसका कभी भी कल्याण नहीं हो पाता। पूर्णरूप से आज्ञा साधु पाल सकते हैं। आचार्य महाराज यदि किसी साधु को यह हुक्म दे दें कि तुमको आज दिनभर इस गर्मी में पहाड़ पर तप करना पड़ेगा तो वह तप करने लगता है। जो प्रायश्चित्त दे, जो आज्ञा दे उसका वह पालन करता है क्योंकि उसे विदित है कि हमारी आत्मा के

रक्षक ये आचार्यजन हैं, ये संतजन हैं, तो जो मनुष्य सत्पुरुषों की सेवा नहीं करते, बूढ़ों का सम्मान नहीं रखते वे अधिक तप भी करें और बड़े-बड़े शास्त्ररूपी समुद्र का अवगाहन भी करें, फिर भी वे कल्याण को, शान्ति को प्राप्त नहीं हो सकते।

श्लोक- 802

मनोऽभिमतनि: शेषफलसंपादनक्षमं।
कल्पवृक्षमिवोदारं साहचर्यं महात्मनाम्।।

महात्माओं के साहचर्य से अभिमतसिद्धि- महापुरुषों का संग कल्पवृक्ष के समान सर्व प्रकार के मनोवाञ्छित फल को देने वाला है। सच्चे मनुष्यों की सेवा से मनुष्यों में ऐसी उत्कृष्टता प्रकट होती है कि वहाँ अनेक पुण्यकर्म का बन्ध हो जाता है और उन पुण्यकर्मों के उदय में इस जीव को अनेक सुख साधन प्राप्त होते हैं। यहाँ जिन्हें जो कुछ समागम मिला है जरा विचार तो करो, जो कुछ जिसे वैभव प्राप्त हुआ है उसकी प्राप्ति क्या हाथ पैरों ने की है या दिमाग ने की है? यह सब पुण्य के उदय का फल है। एक कथानक है कि एक साधु कहीं जा रहा था, रास्ते में उसे ब्रह्माजी मिले, उस समय ब्रह्माजी किसी लड़के का भाग्य बना रहे थे। साधु ने पूछा- क्या कर रहे हो ब्रह्माजी? तो ब्रह्मा बोले कि एक लड़के का भाग्य बना रहे हैं।...कैसा भाग्य इसका आप लिख रहे हो?...5 रुपये और एक काला घोड़ा।...इसे पैदा कहा करोगे?...एक लखपति के घर में।...अरे आप यह क्या कर रहे हो? यदि लखपति के यहाँ पैदा करना है तो लखपति जैसा भाग्य बनावो, नहीं तो किसी गरीब के यहाँ पैदा कर दो। चुप रहो, तुम्हें इससे क्या मतलब? हमारी जो इच्छा होगी सो करेंगे। तो साधु को क्रोध आया, बोला तुम्हें जो इसके भाग्य में लिखना है सो लिखो, मैं उसे मेटकर रहूँगा। अब वह लड़का एक करोड़पति के घर पैदा हो गया। जब वह 10-12 वर्ष का हुआ तब तक सारी सम्पदा खतम हो गयी, वैभव समाप्त हो गया, मकान भी बिक गया, एक झोपड़ी बनाकर रहने लगा। उसके पास रह गया एक काला घोड़ा और 5 रुपये। बारह वर्ष के बाद वही साधु महाराज उस नगर में से निकलें तो ख्याल आ गया कि यही तो वह लड़का है जिसके भाग्य में एक काला घोड़ा और 5 रु. लिखे गये थे और हमने यह संकल्प किया था कि उसके उस भाग्य को हम मेटकर रहेंगे। सो पता लगाकर उस झोपड़ी के पास साधु पहुँचा। साधु ने कहा- बेटा जो हम कहेंगे सो तुम करोगे?...हाँ हाँ महाराज जो आप कहोगे सो करेंगे। अच्छा तुम्हारे पास क्या

है?...एक काला घोड़ा और 5 रुपये।...अच्छा घोड़े को बाजार में बेच आवो। वह बेच आया, तब 105 रु. हो गए। साधु बोला कि इन 105 रुपयों का घी, आटा, शक्कर वगैरह लावो और पूडियाँ बनाकर गाँव के सभी लोगों को खिला दो। उसने वैसा ही किया। जब रुपये और घोड़ा उसके पास कुछ भी न रहा तो ब्रह्म दूसरे दिन फिर 5 रुपये और एक काला घोड़ा भेजते हैं। साधु ने दूसरे दिन भी वही काम करने को कहा। इस तरह करीब 15 दिन तक ब्रह्माजी काला घोड़ा और 5 रु. भेजते रहे, पर उसके बाद विचार किया कि रुपये तो चाहे जहाँ से टपका देंगे पर एक घोड़ा रोज-रोज कहाँ से लायें? सो ऊबकर ब्रह्माजी उस साधु के पास आकर हाथ जोड़कर कहते हैं महाराज माफ करो, अब तुम जैसा चाहो वैसा इसका भाग्य बनावेंगे। सो साधु बोला- इसका वैसा ही भाग्य बनावो जैसा कि करोड़पति इसका बाप था। आखिर वैसा भाग्य बनाना पड़ा। तो इस कथानक से तात्पर्य वह निकालना कि सच्चा काम करने से भाग्य भी पलटा जा सकता है। जब परिणाम से ही भाग्य बना और भाग्य से जब यह समृद्धियाँ प्राप्त हुई तो खोटे परिणाम से यदि पाप का बंध किया जा सकता तो अच्छा परिणाम करने से पाप को रोका जा सकता है। पुण्यबंध होगा और उदय में सर्वसमृद्धियाँ प्राप्त होंगी तो अच्छा परिणाम सत्पुरुषों के समागम से बनता है।

सच्चरित्रों के चरित्रस्मरण में सत्सङ्गरूपता- जब कभी लोग तीर्थयात्रा करते हैं तो जानते क्या हैं? उन महापुरुषों की जीवनी? इन्होंने तप किया, मोक्ष पाया और इतने बड़े-बड़े चारित्र पाले, यों उनके जीवन-चरित्र का स्मरण कराते हैं, तो वह संतों का चारित्र ही तो स्मरण किया गया, उससे विशेष पुण्यबंध करते हैं। कहीं सत्पुरुषों के संग में भक्तिपूर्वक आप बैठें तो जितने भी अवगुण हैं मोहादिक उन सबकी शिथिलता हो जाती है। तब वहाँ विशेष पुण्य का बँध होता और सर्वप्रकार के मनोवाञ्छित कार्य सिद्ध हो जाते हैं, चिन्तन से, शोक से, चिन्ता से अभीष्ट कार्य सिद्ध नहीं होते। किसी चीज की परवाह न करें, जो भी स्थिति आये उसमें प्रसन्न रहे, ज्ञाताद्रष्टा रहे, अपने आपका अधिक चिन्तन रखे, पर चिन्तन न रखे तो ऐसे उत्कृष्ट की प्राप्ति होती है और उस पुण्य के कारण सर्वमनोरथ कार्य सिद्ध होते हैं। वहाँ यह आत्मा स्वयं धर्म है, कल्पवृक्ष है, इसकी छाया में रहकर जो आप चाहें सो मिल जायेगा। अगर कोई खोटी-खोटी की कल्पनाएँ करे, इन जड़ वैभवों की चाह करे तो बस उसको एक यह तुच्छ वैभव मिल जाता है और जो कार्य आत्मा का, शान्ति का, मोक्ष का है वह इसका हट जाता है। चाहिये यह कि हम चाहें तो सर्वोत्कृष्ट वैभव चाहें। सर्वोत्कृष्ट वैभव है मोह हटे और अपने आपको ज्ञानमात्र निहारा करें। दुनिया जाने या न जाने। सर्वप्रकार के विकल्पजालों को तोड़कर मैं केवल अपने ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व में मग्न हो जाऊँ, ऐसा ही प्रयत्न रखना चाहिए।

सत्संग की कल्पवृक्षसम उदारता- एक जगह एक कथानक लिखा था कि एक मनुष्य गर्मी के दिनों में तेज धूप में कहीं जा रहा था। गर्मी से दु:खी होकर उसने चाहा कि कोई पेड़ मिल जाय तो मैं उसके नीचे बैठकर कुछ देर आराम कर लूँ। चलते-चलते रास्ते में उसे एक पेड़ मिल गया। वह पेड़ था कल्पवृक्ष। उसके नीचे बैठकर जो चाहे सो मिल जाय। बैठ गया। अब वह चाहता है कि छाया तो मिल गयी, मगर थोड़ी हवा चल जाय तो और अच्छा है, हवा भी चलने लगी। बाद में सोचता है कि प्यास लगी है, यदि थोड़ा पानी मिल जाता तो और अच्छा था। एक लौटा पानी भी आ गया। अब सोचता है कि फल मिलते तो अच्छा था। लो फलों से सजा सजाया थाल भी आ गया। अब सोचता है कि यहाँ कोई है भी नहीं, दे कौन जाता है? यहाँ कोई भूत तो नहीं रहता? लो भूत भी आ गया। फिर सोचा कि यह मुझे खा न जाय, तो उसे खा भी गया। तो कल्पवृक्ष ऐसी चीज है कि जो चाहो सो मिल जाय। ऐसी ही कल्पवृक्ष जैसी निधि हम आपके पास है, अपना जो परमात्मतत्त्व है वही अपनी अमूल्य निधि है, वह अमूल्य निधि इस जीव को प्राप्त नहीं होती और बाह्यपदार्थों में ही उलझे रहते हैं और अन्त में मरण करके इस संसार में भटकते रहते हैं। तो ये सब सुबुद्धि सत्पुरुषों की संगति से प्राप्त होती हैं। उनके गुणों का चिन्तन करें, अपने अवगुणों को दूर करें तो ये सब संग कल्पवृक्ष के समान हमें उत्तम आनन्द को प्रदान करेंगे।

श्लोक- 803

जायते यत्समासाद्य न हि स्वप्नेऽपि दुर्मति:।
मुक्तिबीजं तदेकं स्यादुपदेशाक्षरं सताम्।।

संतों के उपदेशाक्षर में मुक्तिबीजरूपता- संत पुरुषों के उपदेश का अक्षर मुक्ति का बीज होता है। एक साधु को आचार्य ने सिखाया मां तुष मां रुष। इसका अर्थ है कि किसी पदार्थ में न तो द्वेष करो और न राग करो। वह साधु अधिक पढ़ा लिखा था नहीं। श्रद्धा बहुत विशेष थी तो उसके अक्षरों पर ही श्रद्धा करके उनको जपने लगा- मां तुष मां रुष। कुछ दिन बाद वह भूल गया तो जपने जगा मासतुष मासतुस। मासतुष का कुछ अर्थ होता है पर उसे कुछ भी इसका पता न था। मास शब्द में मूर्धनासकार है जिसका अर्थ होता है उड़द। और तुष का अर्थ होता है छिलका, और कोई उसका अर्थ नहीं होता, लेकिन उसकी श्रद्धा थी तो मासतुस मासतुस रटता रहा और वह समझता जाय कि गुरु ने जो मंत्र दिया है वह बराबर हम निभा रहे हैं। एक दिन वह साधु नगर में

जा रहा था तो देखा कि एक महिला उड़द की दाल धो रही है। तो उसमें उड़द अलग और छिलका अलग हो जाता है, तो उस दृश्य को देखकर उसे आत्मबोध हो गया। ओह ! जैसे यह उड़द की दाल और छिलका अलग-अलग हो गए हैं और शुद्ध स्वच्छ रूप रख रहे हैं इसी तरह आत्मा की बात है। यह आत्मा कर्म रागद्वेष मोह अनेक छिलकों से घिरा हुआ है, वस्तुत: आत्मा एक न्यारी चीज है और ये सारे विकार न्यारी चीज हैं। ऐसी बारबार भावना बने तो यह आत्मा शुद्ध स्वच्छ हो जायेगा। इसी प्रकार आत्मज्ञान उस साधु के उसके गुरु के एक अक्षरमात्र से हुआ। तो सज्जन पुरुषों के उपदेश का असर भी मुक्ति का कारण बनता है। भेदविज्ञान हो, परपदार्थों से प्रीति हटे, आत्मा का बोध हो वही तो मुक्ति का मार्ग है।

कैवल्य की दृष्टि हुए बिना मुक्ति का अलाभ- मुक्ति का अर्थ है छुटकारा। कोई चीज किसी दूसरी चीज से बिल्कुल छूटी हुई हो, तब वे दोनों चीजें न्यारी-न्यारी हुईं। एक ही चीज का सार, एक ही स्वरूप उससे कैसे छूटे? जैसे जल गर्म हो गया तो जल गर्मी से छूट सकता है अर्थात् ठंडा हो सकता है क्योंकि गर्मी जल का स्वरूप नहीं, वह गर्मी जल में अग्नि का निमित्त पाकर आयी हुई है, पर अग्नि की गर्मी भी छूट सकी क्या? अग्नि भी शीतल हो गयी क्या? अरे अग्नि का तो स्वभाव ही गर्मी है, अग्नि से गर्मी अलग कैसे हो सकती है, तो यदि हमें छुटकारा चाहिए है तो पहिले यह श्रद्धान तो आना चाहिए कि जिन जिनसे छुटकारा चाहते हैं उन उनसे न्यारा मेरा स्वरूप है। इसही का बोध न हो तो छुटकारा कभी मिल नहीं सकता। भेदविज्ञान की बात जब किसी क्षण किसी को हो तो थोड़े से अक्षरों का सहारा लेकर ही हो जाता है, तो संत पुरुषों के उपदेश का एक अक्षर मुक्ति का बीज हो जाता है।

श्रद्धासहित कतिपय अक्षरों की आराधना का प्रभाव- एक कथा विशेष प्रसिद्ध है कि एक सेठ वृक्ष के सीके पर चढ़ा हुआ णमोकार मंत्र की सिद्धि कर रहा था। उसकी सिद्धि का विधान इस तरह था कि नीचे तो हथियार खड़े थे तलवार, बर्छी आदिक और ऊपर 108 बार मंत्र के पढ़ने में जिस डोर पर बैठा था उसकी एक एक लर एक एक बार के मंत्र पढ़ने में कटती जायगी। वह पंडित था, ज्ञानी था, पर उसे यह डर लगे कि 108 बार मंत्र के पढ़ने पर यह डोर कट जायेगी, मैं उन हथियारों पर गिर जाऊँगा तो मेरा क्या हाल होगा? उसी समय वहाँ से एक अंजन नाम का चोर निकला, उसने वह दृश्य देखकर सेठ से पूछा कि तुम क्या कर रहे हो। वह सेठ बोला कि हम अपने मंत्र विद्या की सिद्धि कर रहे हैं, इस मंत्र की साधना का यह प्रभाव है कि इसकी सिद्ध हो जाने पर आकाशगामिनी विद्या सिद्ध हो जाती है, तो अंजन चोर बोला- महाराज यह मंत्र हमें भी बता दो, हम सीखेंगे और उसे सिद्ध करेंगे। उस सेठ ने वह मंत्र बता दिया- णमो अरहंताणं, णमो

सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोएसव्वसाहुणं। उसे यह मंत्र थोड़ा-थोड़ा याद हो गया पर थोड़ी ही देर बाद में भूल गया, लेकिन इतना याद रह गया- आणं ताणं कछू न जाणं सेठ वचन परमाणं। तो चूँकि उसकी श्रद्धा थी, इस कारण श्रद्धा के बल पर उसे उस मंत्र की साधना हो गयी। तो श्रद्धापूर्वक संतपुरुषों के उपदेश पूर्वक संतपुरुषों का एक अक्षर भी सुना जाय और साधना में लाया जाय तो वह भी मुक्ति का कारण बन जाता है।

सिद्ध भगवंतों की उपासना की एक पूर्वपरम्परा- एक पाठ प्रसिद्ध है- लोग बोला करते हैं, ओनामासीधं और इसका मखोल लोग यों उड़ाते- ओना मासीधम, बाप मरे ना हम, पर यह मूल में बात सोचों कि ओनामासीधं शब्द कहाँ से निकला, कहाँ से चला और उसमें भाव क्या भरा? बहुत प्राचीन काल में कातेय व्याकरण का अध्ययन कराया जाता था, जिसे कहते हैं एक सस्ता व्याकरण स्पष्ट व्याकरण। यह व्याकरण जैन आचार्य ने बनाया है। और, यह बना कैसे कि एक राजा अपनी रानी के साथ तालाब में जलक्रीड़ा कर रहा था। जलक्रीड़ा अर्थ यह है कि एक दूसरे को छींटा मारे। जिसके उन छींटों के कारण विह्वलता हो जाय वह हार जाय। राजा की छींट कड़ी पड़ती थी तो रानी व्याकुल हो गयी और कहती है मोदकं देय राजन् ! जिसका अर्थ है, हे राजन् ! अब जल मत डालो, छींटे मत डालो। कहना तो उसका यह था, पर राजा ने उसका दूसरा अर्थ लगाया क्या कि रानी कहती है कि मुझे मोदक अर्थात् लड्डू लाकर दो। तो झट उसने नौकरों को बुलाकर उन्हें यह आज्ञा दी कि रानी के लिए जल्दी एक टोकनी में लड्डुवों का लड्डू ले आओ। जब नौकरों ने टोकना लाकर रख दिया तो रानी राजा को धिक्कारती है, कहती है कि देखो यद्यपि मोदकं देय के अर्थ तो दोनों हैं पर प्रकरण का भी तो कुछ अर्थ समझना था। उस समय हमने तो छींटे न मारने को कहा और तुमने लड्डू मंगवाकर रख दिये, क्या यह भी कोई प्रसंग की बात थी? तो जब रानी ने राजा को बहुत धिक्कारा तो वह राजा एक कातेय व्याकरण के रचयिता आचार्य महाराज के पास गया और कहा- महाराज मैं मूर्ख हूँ, जो अधिक से अधिक आसान पड़े वह संस्कृत विद्या मुझे दो। तो आचार्य महाराज ने अत्यन्त सरलरूप में करके जो व्याकरण पढ़ाया उसी का नाम कातेय व्याकरण पढ़ गया। तो उस कातेय व्याकरण का प्रथम सूत्र है- ओम् नम: सिद्धं, और, जितने पुराने लोग होंगे वे जानते होंगे कि पहले पाटी पढ़ाई जाती थी। लड़के लोग जान जाते थे कि हमने चार पाँच पाटी पढ़ ली। एक एक छोटे सूत्राभ्यास का नाम एक पाटी था, पर वे सब सूत्रपाटी अब...क्लास के रूप में प्रयोग होने लगी। ओनामासीधं इस तरह सीखते थे, उसका शुद्ध उच्चारण है ओम् नम: सिद्धं। यह शुद्ध सूत्र है। तो सर्वप्रथम विद्यार्थी को विद्या सीखने पर मंगलाचरणरूप में यह कहा जाता था कि सिद्ध भगवान को नमस्कार हो। तो प्राचीनकाल में विद्या पढ़ाने का तरीका भी इस ढंग से था कि इस धर्म की ओर उपयोग बना रहे।

संतों की उपदेशशैली में अक्षरों की तत्त्वसूचकता- सत्पुरुषों का जो उपदेश है, जो शैली है उस समस्त शैली में उपदेश में प्रत्येक अक्षर धर्म और तत्त्व की सूचना देता है। तो सत्पुरुषों के उपदेश का एक भी अक्षर मुक्ति का कारण होता है और उस सदुपयोग की प्राप्ति कर लेने से स्वप्न में भी मनुष्य के कुबुद्धि उत्पन्न नहीं होती। दुर्बुद्धि दूर होती है और सुमति उत्पन्न होती है, किसी छोटे बच्चे को भी पढ़ाते हैं तो जो समझदार लोग हैं, समर्थ हैं, वे यह नहीं सोचते कि यह तो दूसरी कक्षा का विद्यार्थी है तो कोई प्राइमरी पास अध्यापक से पढ़ावो। वह ऊँचा मास्टर रखता है ताकि वह बड़े आसान तरीकों से सीखा देता है, साथ ही आचरण की भी शिक्षा देता है। केवल ज्ञानमात्र कर लेने से आत्मशान्ति प्राप्त नहीं होती। किन्तु उस ज्ञान पर अमल करने से उसको प्रयोगरूप देने से शान्ति उत्पन्न होती है। ज्ञान ने तो एक रास्ता बता दिया। अब उस पर चले तो काम बनेगा। फर्क यहाँ यह है कि जो ज्ञान किया वैसा ही ज्ञान बराबर बना रहने का ही नाम चलना है। यहाँ कुछ और प्रवृत्तियाँ नहीं करना है। अध्यात्म में ज्ञान का ज्ञानरूप बना रहना ही चलता रहता है। जो व्यवहार प्रवृत्तियाँ हैं वे हैं तो अवश्य, पर वे विषयकषायों से उपयोग हटाने के लिए और इस ही ज्ञानरूप में अन्तर्वृत्ति बनाने के उद्देश्य से है। ये सब बातें हमें सत्पुरुषों के उपदेश से प्राप्त होती है और इसी कारण सत्संग का बड़ा महत्त्व दिया है। ब्रह्मचर्य की पुष्टि, अहिंसा का आचरण जो जो कार्य हमारे भले के लिए हैं वे वे सब विचार और प्रवृत्तियाँ सत्संग में अनायास प्राप्त होती हैं, एक बड़ी प्रेरणा मिलती है।

श्लोक- 804

तन्न लोके परं धाम न तत्कल्याणमग्रिमं।
यद्योगिपदराजीवसंश्रितैर्नाधिगम्यते।।

योगिचरणकमलाश्रय से सर्वश्रेय का उपलम्भ- योगीश्वरों के चरणकमलों की सेवा करने वाले को सर्वस्व कल्याण प्राप्त होता है, ऐसा कोई उत्कृष्ट स्थान नहीं है, धाम नहीं है जो योगीश्वरों की भक्ति से प्राप्त न हो। कोई ऐसा कल्याण नहीं है जो योगीश्वरों की सेवा करने वाले को प्राप्त न हो। योगीश्वरों का भाव क्या है? जो योग साधे और योगियों में जो प्रधान हो उसे कहते हैं योगीश्वर। योग का अर्थ है जोड़ना। जैसे लोकव्यवहार में भी कहते कि 7 और 7 इनका योग करिये जरा। तो योग का अर्थ है जोड़ना। इसी प्रकार सिद्धान्तों में एक आध्यात्मिक उन्नति के प्रसंग में जो योग

शब्द आता है, उसका अर्थ है जोड़ना। अपने ज्ञान को, उपयोग को अपने ज्ञानस्वरूप में जोड़ना इसका नाम है योग, और ऐसा योग जो करते हैं उन्हें योगी कहते हैं। उन योगियों के चरण कमल की सेवा जो करते हैं उन्हें समस्त प्रकार के कल्याण की प्राप्ति होती है। सर्वप्रथम तो सेवा करने वाला भी बड़ा योग्य होना चाहिए, नहीं तो दो चार घंटे में ही भाग जायगा। जिसके पास न धन है, न कुछ लौकिक अधिकार हैं, परिमित तत्त्व या और कुछ तत्त्व जो स्वयं दूसरे की शुद्ध वृत्ति से प्रेरणा करते हैं उनसे कुछ मिलेगा नहीं तो वह उनका साथ छोड़कर भाग जायगा। जो योग्य पुरुष हो वही उनके संग में रह सकता है, जिसे स्वयं अध्यात्मरस की चाह है और जिसने योगियों के सब गुण देखे हों तो उन गुणों से आकर्षित होकर उनकी सेवा में वह रह सकता है तो जो योगीश्वरों की सेवा कर रहा है वह अपने आपको भी योग्य बना रहा है और अपने आपमें अपने योग को बनाये इससे समस्त कल्याण की प्राप्ति होती है। मतलब यह है कि अपने लिए जो बाहरी पदार्थों में उपयोग बनाता है, झुकाव करता है; घर, वैभव, परिजन, पोजीशन, नेतागिरी आदि में अपना मन लगाता है वह तो है बाहरी चीजों में जुड़ना और उन बाहरी चीजों में न जुड़कर अपने आपके अन्तरङ्ग में निज ज्ञायकस्वरूप में अपने मन को लगाना, विकल्प हटाना और अपने ही आत्मा के शुद्ध स्वरूप में अपने ज्ञान का जोड़ना इसका नाम है अन्तर्योग। तो जो ऐसा अपने भीतर अपना झुकाव करते हैं उन पुरुषों को समस्त कल्याण प्राप्त होते हैं और जो केवल बाहरी-बाहरी पदार्थों की ओर अपना झुकाव रखेंगे उनका संसार में रुलना ही बना रहेगा।

कल्याणलाभ के लिये अन्तस्तत्त्व की जानकारी का कर्तव्य- हम आप सब जीव हैं और सबमें ज्ञान का स्वभाव पड़ा है और सभी जीव सच जानने की इच्छा रखते हैं। कोई यह नहीं चाहता कि मेरी झूठी जानकारी बनी रहे। बस अपन को यही करना है कि वास्तव में मुझे अपने सत्यतत्त्व की जानकारी बनी रहे। इस सच्ची जानकारी से ही समस्त संकट दूर होते हैं, क्योंकि जिन्होंने इस सच्चे ज्ञान को समझ लिया कि प्रत्येक पदार्थ जुदा है, अपना-अपना स्वरूप रखते हैं, मैं अपना स्वरूप रखता हूँ, मैं ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ, मुझमें किसी पर से कुछ आता जाता नहीं है, मैं अपने आप ही सुखी हूँ, ऐसा जिसे बोध हो गया वह जब चाहे कदाचित् कुछ खराबी भी अपने चित्त में हो तो जब चाहे अपने आपमें आ सकते हैं और सुखी हो सकते हैं। जैसे यमुना नदी में बहुत से कछुवे होते है, वे अपना सिर उठाये यत्र-तत्र घूमा करते हैं। सैकड़ों पक्षी उस कछुवे की चोंच को पकड़ने के लिए उस पर झपटते हैं, वह कछुवा घबड़ाकर यत्र-तत्र भागता है। अरे कछुवे तू क्यों दुःखी हो रहा है? तेरे पास तो ऐसी कला है कि जब चाहे तब अपने संकट मेट ले। पानी में चार अंगुल अपनी चोंच भर डुबा लेना है, लो सारे संकट समाप्त हो गए। ऐसे ही हम आप अपने उपयोग की चोंच को बाहर में निकाले हुए हैं जिससे अनेक आपत्तियाँ हैं। अरे हम आपमें ऐसी कला है कि जब चाहे तब

इन सारे संकटों को मेट लें। एक इस उपयोग चोंच को बाहर से हटाकर अपने आपमें अन्तर्मुखभर कर लेना है, लो सारे संकट शीघ्र ही दूर हो जाते हैं। देखो जैसे- कोई मुर्दा पड़ा हो, उसके सिर न हो, मात्र धड़ हो तो उसे कोई पहिचान नहीं पाता, और धड़ साथ सिर भी लगा है तो शीघ्र पहिचान हो जाती है, इसी तरह आत्मा यदि अपने उपयोग को अपने में लगाये तो इसे अपने आत्मा की शीघ्र पहिचान हो जाती है। और, इसी कारण उपयोगो लक्षण कहा। ज्ञान ही जीव का लक्षण है। तो हम अपना ज्ञाननेत्र उपयोगनेत्र ज्ञानसमुद्र से बाहर निकाले हैं तो पचासों संकटरूपी पक्षी हम आप पर मंडरा जाते हैं। लोग कहते मुझ पर बड़ा संकट है। अरे क्या संकट है? मूल में यही बात मिलेगी कि किसी परपदार्थ में अपनी दृष्टि गड़ा रक्खी है, इसी कारण मन के अनुकूल बाहर में प्रवृत्ति न देखकर लोग दु:खी रहते हैं। अरे स्वयं में क्या दु:ख है? बाह्यपदार्थों के कारण केवल कल्पना से ही तो दु:खी हैं, स्वयं में अपनी ओर से कोई दु:ख नहीं है। तो यह जो हमने ज्ञान उपयोग की चोंच बाहर में निकाली है, संकट सता रहे हैं, कल्पनाएँ करके हम दु:खी हो रहे हैं तो वे समस्त संकट एक साथ दूर हो जायें ऐसी कला हम आपमें मौजूद हैं। प्रयोग करें उस कला का तो संकट दूर हो सकते हैं। प्रयोग यह करें कि जब बहुत हम अशान्त हो गये, बड़े संकट सता रहे तो उस ज्ञान कला का ऐसा प्रयोग करना कि कुछ क्षण तो हम विश्राम कर लें, सर्व पर को भूल जायें, लो सारे संकट एक साथ समाप्त हो गए।

अध्यात्मयोग के यत्न से संकटों का परिहार- भैया ! बाहर में किस किस क्लेश को दूर करने का उपाय करें? एक दु:ख दूर करते हैं तो दूसरा दु:ख सामने आ जाता है। एक इस ज्ञानकला का उपयोग कर लें तो फिर कोई अशान्ति न रहेगी। इस जीवन में कितने ही झमेले लगे रहते हैं जिनके कारण ये संसार के प्राणी आकुलित रहा करते हैं, कभी भी अपने सत्य विश्राम को नहीं प्राप्त कर पाते हैं। तो कुछ क्षण के लिए तो अपने उस सत्य विश्राम को प्राप्त करें। उसका उपाय क्या है कि एक साथ ही समस्त परपदार्थ सम्बन्धी उपयोग को हटाकर विश्राम से ठहर तो जायें, अपने ज्ञानसमुद्र में अपनी उपयोग चोंच को डुबा तो लें कि सारे संकट एक साथ समाप्त हो जाते हैं। देखिये ये सब बातें अपने भले की हैं, एक यह अध्यात्म प्रयोग है, चाहे महीने में एक बार कर सकें, चाहे रोज एक बार कर सकें, कभी भी बन जाय, सर्व पर को भूलकर, किसी को भी अपने ज्ञान में न लेकर बड़ी स्थिरता से विश्राम से यों ही बैठ जायें कि अपने आप आपमें जो कुछ झलके सो झलके, पर हम जान जानकर किसी भी पदार्थ को सोचना न चाहें। ऐसा एक ठोस कदम जरा अपना बढायें तो सही किसी भी समय किसी भी क्षण तो सच जानो कि यह एक ऐसा महान पुरुषार्थ होगा कि समस्त वैभव, समस्त कल्याण आपने प्राप्त कर लिए। इतनी बात यदि जीवन में न कर सके तो पुद्‍गलों के ढेर से होता क्या है। हजारों, लाखों, करोड़ों का धन इकट्ठा हो जाय

आखिर वे चीजें तो बाहरी हैं। उसके कारण यदि कुछ जीवों ने थोड़ी प्रशंसा कर दिया कि यह तो बड़े आदमी है तो इससे इस आत्मा ने क्या लाभ पाया? अरे उन परपदार्थों से कुछ भी लाभ न होगा। अपना ध्येय तो ऐसा बनायें कि मुझे तो केवल अपनी थाह लेना है। मैं क्या हूँ- उसमें रमना है, और ऐसा करने में जो कुछ हम पर बीतती हो वह मेरे लिए भली बात है। पराधीन रहकर, दूसरे की दृष्टि रखकर, वैभव की आशा रखकर कुछ भी स्थितियाँ गुजरें वे सब हितकारिणी स्थितियाँ हैं। अपने आप अपने में ठहरकर फिर जो मुझे प्राप्त हो वह मुझे सब कुछ है, और अपने से अलग रहकर बाहर दृष्टि रखकर जो कुछ भी चीजें प्राप्त होती हैं वे मेरे लिए कुछ भी नहीं हैं ऐसा अपना निर्णय बनायें और मूल लक्ष्य अपना यह रखें कि मुझे तो आत्मज्ञान करना है और आत्मा में ही अपने को ठहराकर प्रसन्न रहें। कोई प्रयत्न बनाता है यही है अध्यात्मयोग। ऐसा योग करने वाले संत पुरुषों के चरणों की जो सेवा करते हैं उन पुरुषों के समस्त प्रकार के कल्याण की प्राप्ति होती है।

श्लोक- 805

अन्तर्लीनमपि ध्वान्तमनादिप्रभवं नृणाम्।
क्षीयते साधुसंसर्गप्रदीपप्रसराहतम्।।

साधुसंगसेवा से अन्तर्लीनध्वान्त का भी प्रक्षय- साधुजनों के सत्संगरूपी प्रदीप से आवृत्त होकर अनादिकाल का अज्ञान अंधकार भी नष्ट हो जाता है। यह जीव अनादिकाल से अज्ञानी चला आ रहा है। यदि यह जीव पहिले शुद्ध होता, निर्मल होता तो इसमें विकार और अज्ञान किसी भी प्रकार न आ सकता था। जैसे खान में स्वर्ण शुरू से ही अशुद्ध है, पहिले से ही मिट्टीरूप है। बाद में लोग उपाय करके भट्टी से, धौकनियों से उसे शुद्ध करते हैं और उससे शुद्ध स्वर्ण प्रकट होता है किन्तु वह शुरू से अशुद्ध ही था। इस ही प्रकार जगत के ये सब जीव अनादि से अशुद्ध ही हैं। विवेक तपश्चरण आदि उपायों से यह जीव शुद्ध बनता है। तो यों अनादिकाल से इस जीव पर अन्तरङ्ग से लीन अज्ञान अंधकार चला आ रहा है, ऐसा विकट अज्ञान अंधकार भी साधुजनों के संसर्ग के प्रदीप के प्रकाश से नष्ट हो जाता है। अज्ञान क्या है? मोह। और निर्मोह साधुवों को जब देखते हैं, उनका ज्ञान, उनका चमत्कार जब हम विदित करते हैं तो एकदम अपने ज्ञाननेत्र खुलते हैं और मोह दूर हो जाता है। मनुष्य का जीवन सुधरता है बड़ों के सत्संग से। एक तो यह जीव स्वयं

व्यसनों की ओर लगा है और फिर मिले इसे व्यसनों की ही संगति तो व्यसन छूटने का क्या उपाय है? एक तो यह जीव विषयों की ओर ही लगा हुआ है और फिर विषयों की मिले संगति तो ये विषय कैसे छूट सकते हैं? सत्संग बिना दिमाग भी व्यवस्थित नहीं रह सकता।

धर्म के प्रसंग बिना जीवन में नि:सारता का अनुभव- धर्म की कुछ पुट रहे बिना जीवन एक भार सा मालूम होता है। कोई अवसर काज भी धर्म की पुट बिना भद्दे मालूम होते हैं, जैसे कोई विवाह का ही कार्य है। विवाह की प्रक्रिया में धर्म की कोई पुट न रहे, जैसे कि मंदिर जाना, कुछ दान करना आदि जो भी कुछ धार्मिक प्रसंग होते हैं, ये न होते तो वह समारोह नीरस हो जाता। मनुष्य के जीवन में यदि धार्मिक बात न हो तो वह जीवन फिर दूभर हो जाता है। कैसा भी कोई प्राणी हो, किस ही प्रकार का मनुष्य हो, गरीब हो अथवा धनिक, कोई भी मनुष्य निरन्तर अधर्म अधर्म में ही रहे, अपेक्षाकृत धर्म की कुछ भी बात मन में न आये। किसी भी ढंग से तो उसका जीवन दूभर हो जाता है। कितना ही पापी पुरुष हो, कितना ही व्यसनासक्त हो, उसके भी जीवन में किसी न किसी क्षण योग्यता के माफिक अपेक्षाकृत धर्म की कोई चर्चा मन में आती ही है। तो जैसे धार्मिक वातावरण मिले बिना यह जीवन दूभर हो जाता है। ऐसे ही सत्संग मिले बिना यह जीवन दूभर हो जाता है। खोटी संगति ही अहर्निश मिलती रहे तो जीवन दूभर हो जाता है- सत्संग मन को एक बड़ा विश्राम कराने वाला है तो साधुसंतों की संगति से अज्ञान अंधकार नहीं रहता।

श्लोक- 806

दहति दुरितकक्षं कर्मबन्ध लुनीते
वितरति यमसिद्धिं भावशुद्धिं तनोति।
नयति जननतीरं ज्ञानराज्यं च दत्ते
ध्रुवमिह मनुजानां वृद्धसेवैव साध्वी।।

वृद्धसेवा से पापों का दहन- यह प्रकरण चल रहा है ज्ञानी संतजनों की संगति करने का। इसका संक्षिप्त नाम है वृद्धसेवा। वृद्ध के मायने उमर में बड़े नहीं, किन्तु जो ज्ञान, संयम, तप में बढ़े चढ़े हैं ऐसे पुरुषों को वृद्ध कहते हैं। उनकी उपासना करना, संगति करना, सेवा करने ये अनेक अनर्थों को, संकटों को दूर करते हैं और गुणों का विकास करते हैं और साक्षात् काम जैसे विकारों को सुगम उपाय से नष्ट कर देते हैं। सज्जन पुरुषों के सत्संग में निवास हो, भक्तिपूर्वक उनकी सेवा

का भाव हो तो उस अवसर में काम विकार नहीं जगता। ब्रह्मचर्य व्रत के पालन के लिए संत पुरुषों की संगति एक अपूर्व औषधि है। यहाँ सज्जन पुरुषों की सेवा करना ही उत्तम है क्योंकि यह वृद्धसेवा अर्थात् सज्जन पुरुषों की सेवा उपासना पापरूपी वन को दग्ध कर देती है। वृद्धसेवा के प्रतिकूल कुसंग का अनुभव देखिये- जब मोही जनों के बीच ही रात दिवस रहना होता है और उस ही रागद्वेष में निरन्तर चित्त बना रहता है उस समय जीवन प्रगतिशील तो रहता नहीं, कुछ दूभर सा जीवन लगने लगता है, और सत्पुरुषों की सेवा में निर्विकाररूप से समय के व्यतीत होने में ऐसा आत्मबल प्रकट होता, भावशुद्धि प्रकट होती कि पापरूपी वन जल जाता है अर्थात् पापों का नाश होता है।

वृद्धसेवा से कर्मबन्धविनाश तथा भावशुद्धिविकास- यह सत्संगति कर्मों के बन्धन को काट देती है, और उपाय ही क्या है इस जीव की उन्नति के लिए? प्राथमिक उपाय यही है सत्संगति। जिन जिन मनुष्यों ने कुछ भी तरक्की की है उनकी तरक्की का मूल कोई न कोई सत्संग रहा है, बड़े-बड़े पुरुषों के जीवन पढ़ लीजिए पुराण पुरुषों के चरित्र पढ़ लीजिए। आज के भी जो नायक पुरुष हैं, धर्म के नायक, समाज के नायक, देश के नायक उनके चरित्र को भी देख लीजिए- उनकी उन्नति का प्रारम्भ किसी न किसी सत्संग से हुआ है। यह सत्संग चारित्र की शुद्धि को प्रदान करता है। अकेले रहने में या मोही जनों के बीच रहने से धीरता का भाव शिथिल होता है और चारित्र को भी नष्ट कर देता है। जैसे कितने ही लोग कहा करते कि अमुक ने अमुक प्रतिमा ली, अमुक व्रत लिया, अमुक त्याग किया, कुछ दिन तो चला और बाद में फिर न चला, इसका मुख्य कारण क्या है? सत्संग नहीं किया। सत्संगति न हो तो धीरे-धीरे वह भाव शिथिल हो जाता है और जब कुछ समृद्धि होती हैं, आनन्द के दिन कटते हैं, सांसारिक मौज में समय व्यतीत होता है तो व्रत नियम की ओर उत्कंठा नहीं रहती, शिथिल हो जाते हैं। किसी जंगल में एक पुरुष एक खजूर के पेड़ पर चढ़ गया, चढ़ तो गया, जब बिल्कुल ऊपर पहुँच गया और नीचे निगाह डाली तो उसे बड़ा भय लगा, कहीं मैं गिर न जाऊँ, कैसे उतरेंगे? जब दिल में भय बैठ जाता है तब कुछ शूरता नहीं रहती, बल काम नहीं देता। तो सोचने लगा कि हे भगवन् ! यदि मैं अच्छी तरह से उतर गया तो 100 ब्राह्मणों को जिमाऊँगा। थोड़ा साहस किया तो वह कुछ दूर खिसक आया। अब सोचता है कि 100 तो नहीं, पर 50 ब्राह्मणों को जरूर खिलाऊँगा, जब और कुछ नीचे खिसक आया तो सोचता है कि 50 तो नहीं पर 5 ब्राह्मणों को जरूर खिलाऊँगा। जब बिल्कुल नीचे उतर आया तो सोचता है- वाह उतरे तो हम हैं, क्यों हम ब्राह्मणों को खिलायें? यह एक दृष्टान्त मात्र कहा है। जब कोई आपत्ति आती है, तब धर्म की बड़ी भावना होती है। जैसे जब कभी रोगादिक में या किसी घटना में जब यह सन्देह होता है कि प्राण न बचेंगे तो सोचते हैं कि इस बार अगर हम बच गए तो खूब धर्म

करेंगे, इस सारे जगजाल से कुछ मतलब न रखेंगे, पर जब उस आपत्ति से बच गए तो फिर वे सारी बातें भूल जाती हैं, और जैसे का तैसा रवैया फिर चलने लगता है। तो यह जीव अनादिकाल से विषयों की ओर लगा है, वही चित्त में पड़ा है, उसका ही संस्कार है तो उस संस्कार से हटना एक बहुत बड़ा काम है। यह अपने आप अकेला अपने मन के अनुकूल कुछ से कुछ गुनता रहे जिससे कि भावों में निर्मलता जगे। कुछ समय सत्संग भी चाहिए, उससे फिर अपने आपका बड़ा संवेदन बढ़ता है। तो यह संवेद्य भावों की शुद्धि को उत्पन्न करता है और अधिक क्या फल बताया जाय, सत्संगति के प्रताप से भावों की निर्मलता का परिहार होता है जिससे संसार से पार होकर, ज्ञानसाम्राज्य को यह आत्मा प्राप्त कर लेता है। सत्संगति के प्रताप से उत्तरोत्तर निर्मल भावों को बनाता हुआ यह जीव सदा के लिए संकटों से छूट जाता है, निर्वाण प्राप्त कर लेता है।

ब्रह्मचर्य की सिद्धि के प्रयोजक सत्संग से होने वाले लाभों के वर्णन का समापन- यह प्रकरण सत्संगति का चल रहा था, यहाँ समाप्त होने को है। सत्संग का प्रकरण इसलिए दिया गया है कि ध्यान साधना में अंग है एक सम्यक्चारित्र। उससे ब्रह्मचर्य व्रत का वर्णन चल रहा है। ऐसे ब्रह्मचर्य व्रत की सिद्धि सत्संग से होती है, ऐसा बताने के लिए सत्संग का वर्णन किया था। संसार में भ्रमते हुए हम आप सब जीवों को केवल अपने आत्मा का ध्यान ही शरण है अन्य कुछ समागम शरण नहीं है। अनेक बातें तो जीवन में ही अनुभव कर ली गई हैं कि कौन शरण होता है? सब अपने अपने विषय और कषायों के भावों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं, हमारा उनसे कुछ हित नहीं है। ऐसी बात सुनकर कोई सोचे कि ये तो सब मतलबी हैं, स्वार्थ के साथी हैं, इन्हें ठुकरावो, इनसे घृणा करो, ऐसी बात नहीं कही जा रही है, यह तो एक वस्तु का स्वरूप बताया जा रहा है। कोई भी पदार्थ कुछ भी बनता है तो वह खुद अपने लिए बनता है। जीव अजीव सबकी भी यही बात है। प्रत्येक पदार्थ अपने प्रयोजन के लिए परिणमता है। जीव जो भी कार्य करता है वह अपनी शान्ति के लिए करता है और इन भौतिक पदार्थों में जो जिस रूप परिणमता है वह अपना अस्तित्व रखने के लिए परिणमता है, क्योंकि परिणमे बिना वस्तु की सत्ता नहीं रहती, तो समस्त पदार्थों का प्रयोजन खुद अपने आप है, यह वस्तु का स्वरूप है। तो इन जीवों ने अपने ही स्वार्थ के लिए काम किया, अपनी ही कल्पना की, अपने ही सुख शान्ति के लिए किया, इसमें घृणा करने की कोई बात नहीं है, यह वस्तु का स्वरूप है, जान लीजिए कि प्रत्येक पदार्थ स्वयं अपने प्रयोजन के लिए परिणमता है। इससे यह शिक्षा लेना है कि जब जगत का ही ऐसा स्वरूप है, प्रत्येक जीव जो कुछ करते हैं वे अपने लिए ही करते हैं, तो मैं भी जो कुछ कर रहा हूँ अपने लिए कर रहा हूँ। अब मैं ऐसा कौनसा काम करूँ जो अपने लिए हितकर हो? तो इसका सीधा उत्तर है कि रागद्वेष मोह का जो हमने परिणाम किया है, परवस्तुवों से ममता की है वह अपने बुरे के लिए ही किया। मैं केवल अपने इस

कारणपरमात्मतत्त्व ज्ञानमात्र निज स्वभाव की दृष्टि करूँ और यह मात्र मैं हूँ ऐसी उपासना करूँ तो यह कार्य है अपने पूर्ण भले के लिए। और, इसके बीच जितने भी पुण्यकार्य हैं वे इसको इस बात का पात्र बनायें रख सकते हैं कि उनमें यह धर्मकार्य कर सकें।

श्लोक- 807

विरम विरम सङ्गान्मुञ्च मुञ्च प्रपंचं
विसृज विसृज मोहं विद्धि विद्धि स्वतत्त्वम्।
कलय कलय वृत्तं पश्य पश्य स्वरूपं
कुरु कुरु पुरुषार्थं निवृतानन्दहेतोः।।

ज्ञान की प्रियतमता- हे आत्मन् ! निर्णय तो कर कि तुझे क्या चाहिए। एक बात पर रहना, बदलना मत। जो भी तुम्हारी निगाह में जचे कि हमें यह करना है, फिर वही वही करते रहना, बदलना नहीं। निर्णय करो आपको कौनसी बात प्रिय है? अच्छा देख लो, जब छोटा बच्चा होता है साल 6 माह का तो उसे सबसे प्रिय होती है अपनी माँ की गोद। जब कभी उसे कोई सताये तो झट अपनी माँ की गोद में पहुँच जाता है। अपनी रक्षा का एक उसे वही उपाय सूझता है। लेकिन वही बच्चा जब 5-6 साल का हो जाता है तो फिर उसे माँ की गोद प्रिय नहीं रहती, उसे तो खेल-खिलौने प्रिय हो जाते हैं, कुछ और बड़ा हुआ तो उन खेल-खिलौनों से भी उसे प्रीति नहीं रहती, उसे तो खेल-कूद प्रिय हो जाता है, कुछ और बड़ा हो जाने पर उसे विद्या से प्रीति हो जाती है। बिरले ही लड़के ऐसे होंगे जो विद्या से डरें। उन्हें तो अब पुस्तकें प्रिय हो गयीं, नई-नई विद्यायें प्रिय हो गयी। कुछ और पढ़ लिख जाने पर, बड़ा हो जाने पर उन विद्यावों से भी प्रीति नहीं रहती है, उसे तो केवल परीक्षा में पास होने की चाह रहती है, कुछ और बड़ा होने पर उसे डिग्री मिलने की चाह हो जाती है। अब तो कुछ आये जाये नहीं, पर किसी न किसी प्रकार से डिग्री मिले, इस बात की चाह हो जाती है। जैसे अभी कुछ पहिले चला था कि चाहे कुछ भी पढ़े लिखे न हों लेकिन वैद्यभूषण की डिग्री तो मिल ही जायगी, ऐसे ही डिग्री प्राप्त करने की ऐसी चाह हो जाती है कि चाहे कुछ भी न पढ़े लिखें, कुछ भी न आये जाये, पर डिग्री मिलनी चाहिए। उस डिग्री के मिल जाने पर फिर उससे भी प्रीति हट जाती है। अब चाह हो गयी शादी करने की, अर्थात् अब स्त्री प्रिय हो गयी, वह डिग्री भी प्रिय नहीं रही। अब स्त्री हो गई, पुत्र हो गए तो उस पर भी वह प्रेम न

डटा रहा। स्त्री पुत्र की भी प्रीति छूट गई, अब धन प्रिय हो गया। किसी आफिस में वह कोई काम कर रहा है। एकाएक फोन आ गया, फोन क्या आया, यह तो फिर बतावेंगे। पहले उसकी चर्या सुनो। और और दिन तो वह सबसे दो दो मिनट बैठकर बातें भी कर लेता था, लेकिन उस दिन फोन के मिलते ही तुरन्त अपने घर की ओर रवाना हुआ। जब बड़ी जल्दी से वह अपने घर पहुँचता है तो देखता है कि घर में आग लगी हुई है, सारी सम्पत्ति जली जा रही है, लोगबाग कुछ सामान निकाल रहे हैं। फोन भी इसी बात का पहुँचा था। उस घर की जलती हुई स्थिति को देखकर उसे क्या सूझता है कि सारा धन जाय, पर मेरे परिजन निकल आयें, वह लोगों से कहता है कि मुझसे जो चाहे धन ले लो पर मेरे परिजनों को किसी तरह निकाल लो। अब उसे धन प्रिय नहीं रहा। वे परिजन उसे प्रिय हो गये। आग बहुत बढ़ गई, सभी लोग निकल आये पर एक बच्चा अभी रह गया। अब वह सिपाहियों से कहता है कि मेरे बच्चे को आग से निकाल दो हम तुम्हें 50 हजार रुपये देंगे। अरे भाई तुम क्यों नही निकालते? अरे अब तो उसे अपने बच्चे से भी प्रिय अपनी जान हो गई। वह बच्चे को नहीं निकाल सकता, क्योंकि उसे तो अपनी जान प्रिय है। तो अब उस बच्चे से भी अधिक प्रिय हो गयी अपनी जान। थोड़ी देर बाद उस पुरुष को ज्ञान जगे, सारे परिग्रह त्यागकर संन्यासी बन जाय, वन में तपश्चरण करने चला जाय। तपश्चरण करते हुए में कोई शत्रु अथवा सिंहादिक क्रूर जानवर उसे मारें, काटें, छेदें, त्रास दें तब भी उसे अपने प्राणों की परवाह नहीं। अब उसे सबसे अधिक प्रिय हो गया ज्ञानध्यान। कोई शत्रु चाकू से छील भी रहा हो, लेकिन वह यही यत्न करता है कि इस शरीर का भी मुझे रंच विकल्प न जगे। यदि रंच भी इसके प्रति विकल्प जगा तो फिर जन्म मरण धारण करने पड़ेंगे, बस संसार में रुलना पड़ेगा। मैं अपने आपके स्वरूप में ही रत रहूँ, मग्न रहूँ, ऐसे ज्ञान और ध्यान का वह यत्न करता है। तो जीव को अधिकाधिक प्यारा रहा ज्ञान। तो अपेक्षाकृत अभी बहुत सी बातें बताया, उन सबसे क्रम क्रम से प्रीति छोड़कर एक ज्ञान से प्रीति की। सर्वोत्कृष्ट प्रिय है जीव को ज्ञान।

अन्तः ज्ञान व निर्वृत्तानन्द के लाभ के लिये परिग्रह एवं मोह के परिहार का उपदेश- अन्तः ज्ञान का प्रारम्भ होता है सत्संग से। अतएव सत्संग एक बहुत बड़ी हितकारी बात है। इससे ब्रह्मचर्य की सिद्धि होती है, परम ब्रह्मचर्य का पालन होता है, लोक में शरण एक यही स्थिति है कि मैं ज्ञानस्वरूप ज्ञानोपयोग वाला यह मैं अपने ही ज्ञानस्वरूप में मग्न हो जाऊँ, निस्तरंगरूप से ठहर जाऊँ, ऐसी स्थिति ही लोकोत्तम है, शरणभूत है, परम ब्रह्मचर्य है। उस स्थिति में जो आनन्द होता है वह आनन्द अन्य किसी भी स्थिति में नहीं है और उस आनन्द से निर्वाण के आनन्द का पता चलता है कि मोक्ष में किस प्रकार का आनन्द है, जिसमें यह शंका है कि आखिर मोक्ष में होता क्या है, आनन्द कहाँ है तो वह अपने इस अनुभव को करे, उससे उसे विदित होगा कि शान्ति अपने आत्मा

में स्थित होने से होती है। इसके लिए हे भव्य जीव ! इन परिग्रह को छोड़ो छोड़ो। इस निर्वाण के आनन्द की प्राप्ति के लिए हे भव्य जीव ! तू इन मायामय प्रपंचों को छोड़ छोड़। इस आत्मीय आनन्द की प्राप्ति के लिए हे भव्य प्राणी ! तू मोह को दूर कर दूर कर। इस विशुद्ध स्वानुभव से उत्पन्न हुए आनन्द का निरन्तर अनुभव करते रहने के लिए हे भव्य जीव ! तू आत्मतत्त्व को जान जान, अन्य कार्य मत कर। आत्मा के आचरण से ही उत्पन्न होने वाले इस आनन्द की प्राप्ति के लिए हे जीव ! तू शुद्ध आचरणों का ही संग्रह कर। शुद्ध चारित्र बना और अपने ही स्वरूप को देख, ऐसे पुरुषार्थ को हे भव्य जीव कर कर। यहाँ प्रत्येक क्रिया दो दो बार कही है। जैसे जब किसी से कहते हैं कि चल चल, तो इसका अर्थ क्या हुआ कि उसे बहुत प्रेरणा दी गई है कि तू यहाँ एक मिनट भी मत ठहर, चल चल। और, कोई कहे कि चल तो इसका अर्थ यह हैं कि चलना जरूरी है, थोड़ी देर ठहरा भी रहे तो कोई आपत्ति नहीं है। दो दो बार क्रियावों के बोलने से उसकी विशेषता होती है। एक विशुद्ध स्थिति पाने का उपाय है, इन परिग्रहों का त्यागना। मेरे पास और वैभव जुड़ जाय ऐसी भावनाओं को त्यागे। किसी दूसरी वस्तु को मानना कि यह मेरी है, यह मैं हूँ, इसमें मेरा हित है, इससे मेरा बड़प्पन है, इस प्रकार के मोह को त्यागने से और इस आत्मतत्त्व के निर्णायक ऐसे पुरुषार्थ को करने से भव्य जीव मुक्ति को प्राप्त करेंगे।

श्लोक- 808

अतुलसुखनिदानं ज्ञानविज्ञानबीजं
विलयगतकलङ्कं शान्तविश्वप्रचारम्।
गलितसकलशङ्कं विश्वरूपं विशालं
भज विगतविकारं स्वात्मनात्मानमेव।।

अतुलानन्दविधान अन्तस्तत्त्व को भजने का आदेश- हे आत्मन् ! तू अपने आत्मा को आप ही स्वयं को भज। वस्तुत: सदैव आत्मा आत्मा को ही भजता है। चाहे मिथ्यादृष्टि हो, चाहे सम्यग्दृष्टि हो, कोई भी आत्मा किसी परपदार्थ को भज नहीं सकता, लेकिन मिथ्यात्व अवस्था में यह आत्मा आत्मा को देहादिक पदार्थोंरूप से जानता है और सम्यक्त्व अवस्था में आत्मा, अपने उस ज्ञानानन्दस्वरूप को भजता है। तो यहाँ आत्मा को ही भजो, ऐसा कहने में यह बात बतायी है कि तू अपने आपको ज्ञानस्वरूप में भज। इसी के विवरण में अनेक विशेषतावों से बताया है। यह आत्मा

अतुल सुख का निधान है, ऐसा आनन्दस्वरूप है यह आत्मा, जिस आनन्द की संसार की किसी भी स्थिति में तुलना नहीं की जा सकती। वैषयिक सुख भोगने में जितने भी प्रधान पुरुष और देव हुए हैं और भूतकाल में जितने हुए हैं, भविष्य में जितने होंगे उन सब सुखियों का सुख भी संचित कर लिया जाय तब भी उस सुख से तुलना नहीं हो सकती है आत्मा के आनन्दस्वरूप की। यों अतुल आनन्द का निधान है इस रूप में आत्मीय आनन्द का परिचय करना हो कि वह किस प्रकार होता है तो उसका किसी अंश में अनुभवन करके ही जाना जा सकता है।

अनुभवन से अतुलानन्द का विशद परिचय- एक शब्दों से जान लेना और एक अनुभव से जानना, इन दोनों में अन्तर है। अनुभवपूर्वक जानना तो है प्रमाणभूत और यों ही जान ले यह है अप्रमाणभूत। जान लिया किन्तु उसमें दृढ़ता नहीं है, चाहे उस ही अनुरूप हो। जैसे कभी चर्चा आती है ना किसी तीर्थक्षेत्र की जैसे शिखरजी पर नन्दीश्वरद्वीप की रचना बड़ी सुहावनी है। इतने ऊँचें पर्वत बने हैं, इतनी ऊँची प्रतिमा है, इस इस ढंग से है, यों खूब बता दिया जाय, एक तो यह शब्दों द्वारा खूब ज्ञान कर लिया जाय और एक वहाँ जाकर आँखों से साक्षात् दर्शन कर लिया जाय, एक यह ज्ञान, तो इन दोनों ज्ञान में अन्तर है या नहीं? विशदता और अविशदता का अन्तर है। गोमट स्वामी की मूर्ति, बाहुबली की मूर्ति जो संसार में एक आश्चर्य मानी जाती है, और आज कोई बनाये तो शायद वैसी बनाई भी नहीं जा सकती है उसका आकार प्रकार ऊँचाई खूब भली प्रकार बता दी जाये, फिर भी जो सुनकर चित्र देखकर बाहुबली की मूर्ति का जो ज्ञान होता है और वहाँ जाकर कोई दर्शन करे तो उस समय के होने वाले ज्ञान में अन्तर है। तो ऐसे ही सब चीजों का समझिये। जैसे किसी ने इमरती न खाया हो और उसे इमरती के स्वाद का ज्ञान कराया जाय, देखो जलेबी खाया है ना, उससे भी बढ़िया स्वाद है, यों किन्हीं भी शब्दों में सुन ले, और कोई पूछे तो उन शब्दों में बता भी सकता है, चाहे दूसरे लोग यह समझ ले कि इसने इमरती का बड़ा स्वाद लिया है, अच्छा बड़ा वर्णन कर रहा है, लेकिन अनुभवात्मक ज्ञान कुछ नहीं है कि क्या है। भैया ! सभी प्रसंगों की यही बात है। तो अनुभवात्मक ज्ञान में विशदता होती है और केवल शाब्दिक ज्ञान में विशदता नहीं होती। चित्र बनाना कोई शब्दों से सिखा दे- यों पेन्सिल हाथ में ली जाती है, फिर धीरे से जिस ढंग का चित्र बनाना हो वहाँ वहाँ पेन्सिल ले जाई जाती है, यों कोई शब्दों से चित्र बनाने का ज्ञान करा दे और बाद में धर दे कागज पेन्सिल कि नौ अमुक चित्र बनाओ, तो क्या वह बना सकता है? अरे जब तक तीन चार कागज न बिगाड़े, खूब अभ्यास न किया जाय तब तक वह कला नहीं सीखी जा सकती है। यों ही समझिये कि आत्मीय आनन्द कैसा होता है? इस बात को समझाने में समर्थ शब्द नहीं है। कुछ तो समझाते ही हैं, मगर यथार्थ अनुभव आ जाय कि लो यह है इस तरह की बात, शब्दों द्वारा समझ में नहीं आ सकती, तब आत्मीय आनन्द का सत्य परिज्ञान

करने के लिए स्वयं से पर का विकल्प तोड़कर अपने आपमें विश्राम से स्थित होने का अभ्यास करना होगा, और उस क्रिया में आनन्द का पता चलेगा कि आत्मीय आनन्द वास्तविक कैसा है? वह आनन्द अतुल है, ऐसे इस अतुल आनन्द का मैं निधान हूँ, इस रूप में अपने आपका सेवन कर। आत्मा को भज।

ज्ञानविज्ञानबीजरूप अन्तस्तत्त्व को भजने का आदेश- यह आत्मा ज्ञान और विज्ञान का बीज है। जो ज्ञान अनेक पदार्थों की जानकारी कर रहे हैं उन ज्ञानों का नाम है विज्ञान और जो ज्ञान अध्यात्म में आत्मतत्त्व का ज्ञान कर रहा है वह कहलाता है ज्ञान। और विज्ञान है विविधज्ञान। तो ज्ञान के जितना विस्तार है और विज्ञान के जितने विस्तार है उन सबका बीज है कारण है आत्मा। अर्थात् वह समस्त ज्ञान और विज्ञान इस आत्मा से उत्पन्न होता है। अपने आपको इस रूप से अनुभवें कि मैं समस्त ज्ञान विज्ञान का एक स्वरूप बीज हूँ अथवा ज्ञान तो हुए सभी और विज्ञान हुआ भेदविज्ञान। जिसमें विशेष-विशेष ज्ञान किया जाय अर्थात् प्रत्येक पदार्थों की विशेषता को ज्ञान में रखकर जो बोध हो उसे कहते हैं विज्ञान। उस ज्ञान का और भेदविज्ञान का भी मैं बीज हूँ, इस प्रकार ज्ञानस्वरूप एक ज्ञानस्वभाव चैतन्यमात्र अपने आपको भज। यह शिक्षा दी जा रही है परम ब्रह्मचर्य की साधना के लिए। यह ब्रह्म अर्थात् आत्मा ब्रह्म में ही, आत्मस्वरूप में ही चर्या अर्थात् रमण करे, लीन हो जाय, मग्न हो जाय, निस्तरंगता हो जाय उसे कहते हैं ब्रह्मचर्य। मुक्ति और अनुभव से ही कुछ विचार कर लीजिए। हम ज्ञान कर रहे हैं। कोई सम्बन्ध ऐसा नहीं रहता कि जब यह जीव ज्ञान न करे। ज्ञान की छुट्टी कर दे ऐसा एक भी क्षण नहीं गुजरता। पर कोई परपदार्थों का ज्ञान कर रहे हैं, कोई आत्मतत्त्व का ज्ञान कर रहे हैं, कोई किसी ढंग से कर रहे हैं, अब जरा उनमें यह अन्तर तो देखो कि जब हम किन्हीं भी परपदार्थों का ज्ञान कर रहे हैं तो उसका ज्ञान करने में हमें स्थिरता मिलती है या नहीं? हम परपदार्थों का ज्ञान कर रहे हैं तो वे वे परपदार्थ तो स्थायी हैं ही नहीं, मिट जाने वाले हैं, वियोग हो जायेगा और परपदार्थ हैं अनेक तो इस ही पर के ज्ञान में ज्ञान एक पदार्थ को छोड़कर दूसरे पदार्थ का ज्ञान करने लगता है। तो यों परपदार्थों का ज्ञान बनाते रहने में यह आत्मा निर्विकल्प नहीं हो सकता। इसके तरंग उठते रहेंगे और फिर कभी किसी में राग किया, कभी किसी में द्वेष किया, कभी किसी में मोह किया यों विविधताएँ चलती रहेंगी।

ज्ञानविज्ञान बीज अन्तस्तत्त्व के अनुभव की स्थिति का अवधिगम- अब जरा आत्मा के ज्ञान करने की स्थिति का परिज्ञान कीजिए कि वह कितना सुखद है, आत्मा का असाधारण लक्षण है ज्ञान और ज्ञान का लक्षण है ज्ञान। वैसे आत्मा के बारे में हम और और कुछ भी जानकारियाँ बना

सकते हैं- यह आत्मा सूक्ष्म है, यह आत्मा रूपादिक से रहित है, यह आत्मा अनन्त शक्तिमान है। इसके बारे में हम अनेकानेक जानकारियाँ और भी बना सकते हैं, वहाँ भी हम और और बातों की जानकारी बनायें वहाँ स्थिरता न मिलेगी। चाहे वह हम आत्मा के बारे में ही जानकारी बना रहे हैं, लेकिन जब हम अपने आत्मा को ज्ञानस्वरूपमात्र से जानने लग जायें। तो चूँकि जानने वाला भी ज्ञान है और जो जानने में आया वह भी ज्ञान है। यों ज्ञान और ज्ञेय दोनों एक हो जाने से फिर वहाँ तरंग नहीं रहती। निर्विकल्पता पाने का उपाय यह है कि यह ज्ञानस्वरूप अपने आपका अनुभव करे। तो हे आत्मन् ! यदि परमब्रह्म की उपासना करना है तो अपने आत्मा का, इस प्रकार अनुभव करें कि यह मैं ज्ञान और विज्ञान का बीज हूँ। जैसे बीज से अंकुर निकलता है और उन अंकुरों में भी बीज बनकर उनमें भी अंकुर निकलेंगे, एक बीज से अनेक बीजों की परम्परा चलती रहती है, इस ही प्रकार इस ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्व में अनेक ज्ञानों का निवास है। यह ज्ञान से कभी खाली नहीं होता। आत्मा को स्वरूपदृष्टि से देखो और भगवान को सब दृष्टियों से देख लो। स्वरूपदृष्टि से भी देखो और व्यक्तपरिणमन की दृष्टि से भी देखो, वैसे तो भगवान अन्तरङ्ग में और बहिरङ्ग में एक रस है। हमारी हालत यह है कि हमारा अन्त:प्रभु की ही तरह है क्योंकि स्वरूप एक है, लेकिन बाह्य में उपाधिकृत भेद हो गया है। तो उपाधिकृत भेद पर हम निगाह ही न दें और केवल उस स्वरूपदृष्टि से स्वरूप को ही निहारें तो क्या किसी क्षण हम ऐसा कर नहीं सकते? आत्मा में हम आत्मा के परिणमनों को नजर में न लें, और केवल उसके स्वभाव को नजर में लें। ऐसा हम कभी कर तो सकते हैं, और इस ही प्रयोग के आधार पर आत्मतत्त्व का विकास होता है।

अन्तस्तत्त्व की परम परिपूर्णता- जब हम अपने आपको स्वरूपदृष्टि से निहारते हैं तो उस समय कोई अधूरापन नजर नहीं आता। मैं आत्मा तो परिपूर्ण हूँ। क्या ऐसा है जैसे कोई घडा बनाये तो अभी आधा बना है और ठहर जावो, पूरा बन जाने दो, क्या इस प्रकार यह आत्मा है कि अभी आधी है अभी और आधी बनेगी। प्रत्येक पदार्थ परिपूर्ण सनातन सत् है। स्वरूपदृष्टि से अपने आपको निहारें कि मैं पूर्ण हूँ, और वह भगवान भी पूर्ण है। अच्छा अब और आगे चलिए- इस पूर्ण में से जो कुछ बात निकलती है, क्या वह उस काल में अधूरी है? वह भी उस काल में पूरी है। प्रतिसमय हमारा जो परिणमन बनता है वह परिणमन प्रतिसमय पूर्ण ही है। वह पूर्ण में से पूर्ण निकल जाता है, फिर भी रोता नहीं बनता, मैं पूर्ण का ही पूर्ण रहता हूँ। तो जैसे मैं परिपूर्ण हूँ ऐसे ही मैं एक बीजस्वरूप हूँ, चैतन्यमात्र अन्तस्तत्त्व हूँ। ऐसा अपने आपका अनुभव करें। इस अनुभव में अर्थात् जब यह ज्ञान ज्ञानस्वरूप को जानने लगे तो वहाँ आत्मा आत्मा में निस्तरंग, निर्विकल्प निर्भय हो जाता है, यही है परमब्रह्मचर्य।

निष्कलङ्क अन्तस्तत्त्व के अनुभवन का आदेश- भैया ! अपने आपको निष्कलंक अनुभव करें। जैसे जो जौहरी है, पारखी है, सर्राफ है वह किसी भी आभूषण को लेकर कसकर उसके शुद्ध स्वर्ण पर दृष्टि रखता है कि इसमें इतना स्वर्ण है, बाकी सब गैर तत्त्व हैं, क्योंकि उसे शुद्ध स्वर्ण का परिचय है और उसको शुद्ध स्वर्ण की रुचि है, इसी प्रकार जिस जिस तत्त्ववेदी को अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूप का परिचय हुआ है और उसकी ही रुचि है तो वह इस सहजस्वरूप में अर्थात् जो कुछ भी भाव गुजरा, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक गुजरे इन सबको वह यह मैं नहीं हूँ, ऐसा जानकर हटा देता है। देखो रुचि का प्रताप है। स्वर्ण में तो फिर भी इतना भेद है कि किट्ट कालिमा स्वर्ण से अलग है और तपाकर यह दिखाया जा सकता है कि लो यह तो निकली कालिमा और वहाँ तो स्वर्ण में और कालिमा में इतना प्रकट भेद है और देख सकते हैं कि लो यह कालिमा है और यह शुद्ध स्वर्ण है। वहाँ तो दो पदार्थ हैं, और यह मैं आत्मा अकेला हूँ, इसमें कोई भी दूसरा पदार्थ नहीं है। रागादिक पदार्थ इसे अलग हैं। हमारे आत्मा में उस काल में रत्नत्रयरूप है वह विकार तिस पर भी रुचि का ऐसा प्रताप है कि उन रागादिक विकारों को आत्मा माना ही नहीं है। इस प्रकार अपने आत्मा को निष्कलंक अनुभव करें।

शान्त निष्प्रपञ्च विशाल अन्तस्तत्त्व के अनुभवन का आदेश- अपने आपको ऐसा शान्त अनुभव करें कि इसमें विश्व के सब प्रपंच शान्त हो गए हैं; देखो थोड़ा जबरदस्ती भी अपने को सुखी बना सकते हैं। मानो कोई इष्ट गुजर या, उसके पीछे बड़े दु:खी हैं तो थोड़ी देर को अपने को उस इष्ट से अत्यन्त भिन्न निरखने लगें, उसकी सत्ता उसमें है, मेरी सत्ता मेरे में है ऐसा अनुभव करने लगे लो सारे सुखों की झलक वहाँ आ जायगी। और, बड़ा प्रेम है, सब तरह का मौज है लेकिन अपने को दु:खी अनुभव करें तो दु:ख आ जायगा। जिस महापुरुष को मुक्त होने की इच्छा है अर्थात् बंधे हुए इन कर्मों से, शरीर से अपने को मुक्त होना चाहता है उसे आवश्यक है कि वह अपने मुक्त स्वरूप को निहारे। यदि अपने को महाप्रपंची, मायासक्त, परिवार वाला निरखा और मुक्ति के स्वप्ने देखे तो उसकी वह मिथ्या कल्पना है। हे आत्मन् ! यदि तुम परम ब्रह्मचर्य की उपासना करना चाहते हो अर्थात् ब्रह्मचर्य व्रत का आनन्द लेना चाहते हो तो अपने को सर्व प्रपंचों से रहित केवल ज्ञान ज्योति मात्र अनुभव करें। अपने आपको निष्कलंक अनुभव करें। हे आत्मन् ! तू तो विविक्तरूप है, समस्त विश्व का ज्ञान तो तुम ही में होता है। उस ज्ञान की अपेक्षा तुम विश्वरूप हो, अत्यन्त विशाल हो, तुम्हारा विराट रूप है। इस ही ज्ञान में समस्त लोकालोक का आकार समाया जा सकता है। प्रभु के ज्ञान में समस्त लोकालोक प्रकट प्रतिभासमान होता है, तब बतलावो वह ज्ञान कितना बड़ा है? क्या इस नगर से भी बड़ा है? क्या इन समुद्रों से भी बड़ा है, क्या इन तीनों लोकों से भी बड़ा है? अरे तीनों लोक और अलोक इन सबको मिला दो उससे भी विशाल यह ज्ञान है। ये

जगत के प्राणी अपने आपको तुच्छ अनुभव करते चले जा रहे है, भले ही ये कुछ मौज मानते हों घर में रहकर, भले ही इन नाना इष्ट समागमों में मौज मानते हों लेकिन वे अपने को तुच्छ ही मानते हैं। अरे उस तुच्छता के अनुभव को छोड़ो, यह मेरा है, यह पराया है; इस प्रकार के विकल्पों को छोड़ो, ये तुच्छ बातें है। हे आत्मन् ! इस ममता के कारण तेरी प्रगति रुकी हुई है। अपने को विशाल अनुभव करो; और मुझमें अब विकार नहीं रहे हैं, दूर हो गए हैं, विगत हो चुके हैं, इस प्रकार अपने को निर्विकार अनुभव करो।

धारणापूर्वक ध्यान के कर्तव्य से लाभ लेने का अनुरोध- ध्यान करने के लिए धारणा हुआ करती है। जरा अपने आपको इस तैयारी के साथ बनायें, सब ओर से विकल्प हटावें। यहाँ प्रकृत में जो तत्त्व कह रहे हैं उस पर ही ध्यान जमावें। यह मैं एक मेरूपर्वत जैसे विशाल पर्वत के ऊपर बैठा हूँ, यों समझिये कि यहाँ बड़े भारी समुद्र हैं उन समुद्रों के बीच एक जम्बूद्वीप है और उस द्वीप में लाखों योजन की ऊँचाई पर, प्रभु विराजमान हूँ, और वही मैं भी बैठा हूँ, अपने आपमें प्रभुस्वरूप को प्रभु को पूरी शकल में जैसी कि शान्तमुद्रा में प्रभु की मूर्ति के दर्शन करते हैं, लो यह मैं भी उस मूर्ति के ही समान निश्चल दशा में विराजमान हूँ, एक अपने आपके प्रभुस्वरूप को देख रहा हूँ, उस समय यों अनुभव करें कि मैं तो प्रभु के ही समान ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ, निर्विकार हूँ, यों अपने आपकी निर्विकारता का अनुभव करने लगें। यही एक परम ध्यान है। इस परम ध्यान के बीच-बीच में शुक्लध्यान की अग्नि प्रज्ज्वलित होती है। लो इस शुक्लध्यान की अग्नि ने इन अष्ट कर्मों का विध्वंस किया, मात्र शरीर रह गया, सारे विकार भस्म हो गये। लो ये सारे कर्म धूलवत उड़ गए। यों जरा ध्यान तो बनाओ। वहाँ आप अपने आपको निर्विकार अनुभव करने लगोगे, यों अनेक आत्मसाधना के उपायों से अपने आत्माराम के सम्मुख होकर अपने आपको शुद्ध ज्ञानानंद मात्र अनुभव करें, इससे ही इस परम ब्रह्मचर्य की प्राप्ति होगी।

श्लोक- 809

धन्यास्ते मुनिमण्डलस्य गुरुतां प्राप्ता: स्वयं योगिन:
शुद्धयत्येव जगत्त्रयी शमवतां श्रीपादरागाङ्किता।
तेषां संयमसिद्धय: सुकृतिनां स्वप्नेऽपि येषां मनो
नालीढं विषयैर्न कामविशिखैर्नैवाङ्गनालोचनै:।।

निर्मलचित्त मुनिगण को धन्यवाद- ब्रह्मचर्य महाव्रत के प्रकरण में अब ये अन्तिम प्रसंग आ रहे हैं। अंत में कहते हैं कि जिन मुनियों का मन विषयकषायों में स्वप्न में भी आरूढ़ नहीं होता वे मुनि धन्य हैं। यह जीव विषयों की आशा से कायर बन जाता है। आत्मा केवल ज्ञाता रहे, जाननहार रहे, किसी भी इन्द्रियविषय में अपनी रागवृत्ति न बने तो यह अमर ही है, वीर ही है। वे मुनि धन्य हैं, वे सुमति धन्य हैं, जिनका मन विषयों में नहीं विद्ध होता है, जो काम के बाण और स्त्री के कटाक्षों से जिनका मन स्खलित नहीं होता, जो विषयकषायों से अत्यन्त दूर रहते हैं ऐसे सुमति धन्य हैं। प्रवृत्तियों में बहुत कुछ निराकरण करने से आखिर एक सबसे बड़ी कठिन व्यथा यह विषयव्यथा रहती है। ब्रह्म में लीन होने में बाधक यह मनोज वाञ्छा है, जिस अन्तर्वेदना के कारण यह पुरुष अपने ब्रह्मस्वरूप में मग्न नहीं हो पाता। जिन्होंने समस्त इन्द्रियविषयों से निवृत्ति पा ली है वे मुनीश्वर धन्य हैं। और, देखो यह मूल गुण में शामिल किया है। पञ्चेन्द्रिय और मन का निरोध यह साधुवों का मूल गुण है, यदि अन्त में इनका निरोध न हो सका तो वहाँ साधुता नहीं है। पंचम गुणस्थान तक तो रौद्रध्यान बताया है। इससे ऊपर रौद्रध्यान नहीं है। आर्तध्यान तो सम्भव हो सकता छठे गुणस्थान में, इष्टवियोगज, अनिष्टसंयोगज और वेदनाप्रभव ये सम्भव हो जाते हैं किन्तु रौद्रध्यान सम्भव नहीं हो सकता। यद्यपि उन्हीं स्वाभाविक पंचम गुणस्थानवर्ती के लिए ऐसा विकट रौद्रध्यान नहीं है जो मोह में सम्भव होता है, लेकिन जब तक परिग्रह का सम्बन्ध है तो उसके कारण से हिंसानन्द, चौर्यानन्द, मृषानन्द और विषयसंरक्षणानन्द ये चार प्रकार के किसी न किसी रूप में चाहे उनका छोटा ही रूप हो, ये निहारे नहीं जा पाते हैं। जब तक घर में रह रहा है कोई तो कुछ धनार्जन का भी कार्य है, कुछ रसोई आदिक परिग्रहों का भी कार्य है, कुछ अपनी स्वरक्षा बनाये रखने का भी कार्य है। कोई घर में रहे और बड़ी विरक्ति दिखाये, बाबा बन जाय, ले जावो, सब कुछ खुला है, तो ऐसा बाबापने का काम तो घर में नहीं निभ पाता, स्वरक्षा भी करना है, तो कुछ रौद्रध्यान सम्भव है पर छठे गुणस्थान में रौद्रध्यान रहता ही नहीं है, वहाँ विषयसंरक्षणा की चिन्ता नहीं है।

निसङ्गता में स्वातन्त्र्यविकास- नि:संग साधुवों के विहारस्वातन्त्र्य को पक्षियों की तरह बताया है। जैसे देखा होगा कि पक्षी कहीं बैठे हैं, मन चाहा लो फुर्र से उड़ गये। गृहस्थों को तो यदि कोई आफत आ जाय तो वे कहाँ भागकर जाये, उनके पीछे तो बड़ा झमेला है, कहाँ क्या लादकर ले जायें? साधुजन ऐसे होते हैं कि वे निष्परिग्रह हैं, नि:संग हैं, उनकी जब मर्जी आयी जब जहाँ चाहे विहार कर जाते हैं। इन परिग्रहों के कारण कोई विकट परिस्थिति अनुभवी जा रही हो यह बात साधुवों में नहीं पायी जाती है। हाँ कोई साधु यदि गृहस्थों की भाँति बड़ा आडम्बर मुड़ियाये, उसकी चिन्ता रखे तो वह उसकी साधुता नहीं है। साधुता नि:संग अवस्था में ही बनती है, और ऐसा नि:संग

होने के लिए मूल में ब्रह्मचर्य की परम साधना होनी चाहिए। अच्छा यह विचार कर लो कि जो इतना परिग्रह लगा है, गृहस्थी बंधी है, महल मकान है, दुकान है, वैभव है, जमीन है, तिजोरी है, ये सारी बातें जो गृहस्थी में लगी हैं उनका मूल कारण क्या है? विचार करते जावो। इतना महान संग बनाने का कारण यह है कि ब्रह्मचर्य की साधना न रख सके और उसकी प्रतिक्रिया में विवाह करना पड़ा, उसके कारण फिर इतने आडम्बर रखना जरूरी हो ही जाता है। इन परिग्रहों में आसक्ति होने का कारण मूल में ब्रह्मचर्य महाव्रत की सिद्धि न रख सकना है, एतदर्थ सबसे अधिक जोर ब्रह्मचर्य महाव्रत पर दिया जा रहा है। जो परमब्रह्मचर्य की उपासना करता है, कामबाधावों से, नेत्रकटाक्षों से जिनका मन कभी विद्ध नहीं होता ऐसे महासंत पुरुषों के ही संयम की साधना होती है; और ऐसे योगीश्वर ही योगीश्वरों के समूह में आचार्यपद को, प्रधानता को प्राप्त होते हैं। मुद्रा भी शान्त हो ऐसे परमयोगीश्वरों के चरण कमलों के अनुराग से ये साधु निश्चय करके पवित्र हो जाते हैं। एक तो मोहीजनों के प्रति अनुराग जगना, मेरा तन, मन, धन, वचन सब कुछ हे स्त्रीदेवते ! हे पुत्र महाराजो ! तुम्हारे लिए न्योछावर है, उसका परिणाम निरख लो, क्या मिलता हैं। लाभ उससे कुछ भी नहीं प्राप्त होता है और एक ऐसे संत योगीश्वरों के चरणों में यह चित्त अनुराग से अंकित हो जाय तो देख लीजिए उस पुरुष का हृदय कितना प्रसन्न और पवित्र हो जाता है? आखिर ये दुनिया के झंझट जिन्हें मान रक्खा है ये झंझट छूटते नहीं हैं। अभी इस भव में इस तरह के झंझट हैं, अगले भव में अन्य तरह के झंझट लग जायेंगे। यों इन झंझटों के मोल लेते रहने का ही तो नाम संसार है। तो वे योगीश्वर धन्य हैं जिनका मन विषयों से विद्ध न होता और परमब्रह्मचर्य की साधना रखते हैं, और वे भक्तजन भी धन्य हैं जो ऐसे योगी संतों में गुणों के अनुरागी बने रहा करते हैं।

श्लोक- 810

येषां वाग्भुवनोपकारचतुरा प्रज्ञा विवेकास्पदम्
ध्यानं ध्वस्तसमस्तकर्मकवचं वृत्तं कलङ्कोज्झितम्।
सम्यग्ज्ञानसुधातरङ्गनिचयैश्चेतश्च निर्वापितं
धन्यास्ते शमयन्त्वनङ्गविशिखव्यापारजाता रुजः।।

उपकारकोपदेष्टा विवेकी प्रज्ञ संतों के ध्यान का धन्यवाद- जिन योगीश्वरों के वचन लोक के उपकार के आधार हैं और प्रज्ञा विवेक के साधन हैं वे योगीश्वर धन्य हैं। देखिये मनुष्य के विशेष

करके दो ही तो धन हैं। भीतर में विवेक और ऊपर में व्यक्त होने वाले वचन। जिस पुरुष में विवेक है और जिसके वचन लोक का उपकार करने वाले हैं वह पुरुष संत है, धन्य है। व्यक्त वचनों से तो लोक का उपकार होता है और विवेक से अपने आपकी रक्षा होती है- इन दोनों बातों पर जो विशेष उन्नति शील बना रहेगा वह उतना ही विशेष योग्य हो जाता है। विवेक का अर्थ क्या है? लोग यह समझते हैं कि विवेक मायने जानकारी। विवेक का सही अर्थ है- जो दो टुकड़े कर दे इसका नाम विवेक है। जानकारी का अर्थ तो पीछे लिया गया है। जानने की बात विच्ल्ट धातु में कुछ भी नहीं है, इसका अर्थ है दो टुकड़े कर देना। जिससे ध्वनित होता है कि भेद विज्ञान का नाम विवेक है। जिस आशय में भेदविज्ञान नहीं बसा है वहाँ कितना भी ज्ञान क्यों न हो, उस ज्ञान के होने पर भी विवेक तो कहते नहीं, लोग भी नहीं कहते। कोई बहुत बड़ा ज्ञान प्राप्त कर ले अध्ययन करके किन्तु हित अहित की परख न हो तो लोग उसे कहते हैं कि पढ़ तो गया, पर विवेक कुछ नहीं है। तो उस पढ़ने से, अध्ययन से और ज्ञान से कुछ अलग बात है ना विवेक।

विवेक की अध्ययन से विशेषता- देखिये छुपी हुई बात को भी कोई ज्योतिष गणित से बता सकें ऐसे भी लोग होते हैं। ऐसे ही एक दृष्टान्त में कहते हैं कि कोई चार मित्र थे जो अपनी ज्योतिष गणित सी छुपी हुई बात को भी बता देते थे। चारों में सलाह हुई कि चलो अपने राजा महाराजावों के पास चलें और यह बात उनके दिल में प्रवेश कर दें, अच्छा तो चले वे किसी नगर के महाराजा के पास। चारों ने बताया कि तुम जो चाहे पूछो, हम अपनी ज्योतिष विद्या के द्वारा छुपी हुई बात को भी बता देंगे। तो महाराजा ने क्या किया कि हाथ में एक चीज उठा ली और मुट्ठी बाँध ली, पूछा बतावो हमारी मुट्ठी में क्या है? सो मुट्ठी में क्या चीज है फिर बतावेंगे। एक ने गणित लगाकर बताया कि आपकी मुट्ठी में कोई गोल गोल चीज है, दूसरे बताया महाराज गोल भी है और उसके बीच में छेद भी है, तीसरे से पूछा कि तुम बतावो क्या है? तीसरा कहता है महाराज वह चीज गोल भी है, उसके बीच में छेद भी है और साथ ही वह लोगों के काम भी आती है। चौथे से पूछा- अब तुम बतावो क्या चीज है? तो वह बोला- खोल दो महाराज मुट्ठी, इसमें चक्की का पाट है। अरे था तो उसकी मुट्ठी में जाप की माला का दाना। उन तीनों ने तो बिल्कुल ठीक बताया था पर उस चौथे ने बताया कि चक्की का पाट है। अरे इसे तो देहाती मूर्ख भी समझ लेगा कि चक्की के पाट मुट्ठी में नहीं आ सकता है। तो पढ़ लिख लेना, अध्ययन कर लेना और बात है, विवेक जगना और बात है। किसी गाँव में एक लालबुझक्कड़ नाम का आदमी था। वह गाँव की सारी समस्यावों को हल करता था। चाहे अट्ट बताये चाहे सट्ट, पर वह गाँव की सारी समस्याएँ सुलझाता था। एक बार रात्रि में वहाँ से एक हाथी निकला, गाँव के लोगों ने सुबह देखा तो हाथी के पैरों के बड़े-बड़े निशान बने हुए थे, लोग आश्चर्य में पड़ गए कि यह क्या चीज है? यह बात लालबुझक्कड़

के पास पहुँची। सभी लोगों ने कहा- लालबुझक्कड़ महाराज, हमारी इस समस्या को हल कर दो। तो लालबुझक्कड़ ने उस स्थान को आगे पीछे देखा और कहा- तुम लोग घबड़ावो मत। कहा देखो- लालबुझक्कड़ बुझ सके और बुझे न कोय। पैर में चक्की बाँधे हिरण भागा होय। एक हिरणा ने अपने पैर में चक्की बाँध ली और यहाँ से निकल गया, उसके ये निशान हैं। युक्ति तो बिल्कुल ठीक दी। चाक के पाट बराबर ही वे निशान थे और हिरण जब उछलता है तो दूर दूर पैर धर कर उछलता है। बातें तो ठीक थी, पर उसके यह विवेक न जगा कि ऐसा भी कहीं होता है क्या? तो विवेक बिना चित्त में शान्ति सन्तोष साता प्रकट नहीं होते हैं। तो वे योगीश्वर धन्य हैं जिन्होंने प्रज्ञा के द्वारा अपने आपमें स्वाधीनता प्रकट की है और इन वचनों के द्वारा लोक का उपकार किया है।

कर्मविध्वंसक ध्यान के अधिकारी को धन्यवाद- वे योगीश्वर धन्य हैं जिनके ध्यान ने कर्मबन्धरूपी कवच को नष्ट कर दिया है। जैसे कवच बड़ा मजबूत होता है, लोग उसे अपने शरीर में ओढ़ लेते हैं तो बाण कोई मारे तो उस पर कोई असर नहीं होता। तो इस जीव के साथ यह कर्मबन्ध का ऐसा मजबूत कवच लगा हुआ है कि जिसके कारण सत्शिक्षा का असर नहीं होता। तो ऐसा शत्रुतारूप जो कवच है उस कवच को केवल ध्यान के बल के तोड़ा जा सकता है, ये रागद्वेष मोह आदिक भाव के बन्धन, ज्ञानावरणादिक कर्मों के बन्धन एक आत्मध्यान से ही तोड़े जा सकते हैं। लोग शान्ति के लिए बाहर में बड़ी खोज करके व्यग्र होते जा रहे हैं, पर शान्ति बाहरी खोज से मिल नहीं सकती। वह सत्संग धन्य है जिस सत्संग में रहकर बुद्धि ऐसी व्यवस्थित रहती है कि जिस बुद्धि के द्वारा यह पुरुष अपने आपमें अपने अन्तस्तत्त्व के ध्यान से ही शान्ति और सन्तोष का अर्जन करता है; और वे योगीश्वर भी धन्य हैं, पूज्य हैं जिन योगीश्वरों के गुणों का स्मरण करने से अपने आपमें निर्मोहता का उत्साह जगता है और आत्मध्यान की प्रेरणा मिलती है, यों यह आत्मध्यान ही कर्मबन्धन को तोड़ने में समर्थ है।

निष्कलङ्क ज्ञानस्वरूप योगीश्वरों को धन्यवाद- वे महायोगीश्वर धन्य हैं जिनके चारित्र कलंकरहित हैं। कलंक क्या है? विषय और कषाय। कहते हैं कि आतम के अहित विषय कषाय, इनमें मेरी परिणति न जाय। विषय और कषाय ये दो जीव के विकार हैं। प्रभु से हम आप यही प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभो ! इन विषय और कषायों में मेरा उपयोग न जाय। मैं रहूँ आपमें आप लीन। सो करहु होऊँ ज्यों निजाधीन। कवि दौलतरामजी ने बताया है कि आत्मा के अहित करने वाले ये विषय और कषाय के परिणाम हैं, इन रूप मेरी परिणति न हो। मैं अपने आपमें ही लीन रहूँ और हे नाथ ! यदि तुम कहते ही हो कि मांग लो कुछ हमसे तो मैं यह मांगता हूँ कि सो करहु होऊँ ज्यों निजाधीन। ऐसा काम बना दो कि मैं निज में लीन होऊँ। जिनको धर्म में रुचि है वे

धर्मतत्त्व के वेत्ता चाहे गृहस्थ हों, चाहे साधु हों, चाहे आचार्य हों उत्तरोत्तर विशेषता तो जरूर है, मगर धर्म की रक्षा करने वाले पुरुष, ज्ञान की रक्षा करने वाले पुरुष ज्ञानवंत पुरुषों में अपूर्व गुणानुराग रखते हैं और इतना अधिक गुणानुराग होता है कि कदाचित् किसी एक बात में जहाँ सैकड़ों बातें बताई हैं कदाचित् किसी एक तत्त्व के अप्रयोजनभूत निर्देश में थोड़ा स्खलन हो जाय तो भी उतने के कारण उन ज्ञानी संतों में गुणानुराग कम नहीं करते हैं। जैसे माता का पुत्र में इतना अधिक अनुराग होता है कि कदाचित् थोड़ा अपराध भी हो जाय तो पुत्र से कितना स्नेह रखती है। हाँ कदाचित् असह्य अपराध हो जाय तो माता भी जो न्यायवती है वह पुत्र को छोड़ देती है। छद्मस्थ जन है फिर भी कितना विशेष ज्ञान था उन संतजनों का जिन्होंने किस किस तरह से इस तत्त्व का निरूपण किया है, यह उनके साहित्य का अनुसंधान करने पर विदित होता है। जो कोई तालाब की अवगाहना करेगा वही तो तालाब की गहराई माप सकेगा। अवगाहन किये बिना केवल ऊपर के देखने से गहराई का पता नहीं पड़ता है। एक लौकिक कथानक है कि राम रावण के युद्ध में बंदरों ने समुद्र को लाँघ लिया था और लंका में पहुँच गए थे। तो भले ही कल्पना कर लो कि वानरों ने समुद्र को लाँघ लिया मगर समुद्र में क्या रत्न पड़े हैं इसका पता क्या उन वानरों को हो सकता है? नहीं हो सकता। इसी प्रकार पोथी पन्नों के अध्ययन कर करके एक इस ज्ञानसमुद्र को कोई लाँघ भी ले, बंदरों की तरह पार कर ले, पर इस ज्ञानसमुद्र में मर्म क्या पड़े हुए हैं यह बात गुणानुराग की डुबकी लगाये बिना विदित नहीं हो सकती। वे योगीश्वर धन्य हैं जिनका चित्त सम्यग्ज्ञानरूपी अमृत के तरंगों से अशान्त हो गया है। मोह रागद्वेष से व्यथित हृदय वाले को क्या कोई ठंडा घर शान्त कर सकता है? अरे मोह रागद्वेष की अग्नि से संतप्त हृदय वाला ज्ञानरूपी अमृत की तरंगों से ही शीतल किया जा सकता है। ज्ञान में ही ऐसी सामर्थ्य है कि उन विक्रम के संतापों को क्षणमात्र में नष्ट कर देता है। एक विचार ही तो है। बाह्य में कुछ परिणमन हो गया हो, हम मन के अनुकूल नहीं समझ रहे हैं तो हो गया परिणमन। जब हम उसको अपने आपमें मोहवश अधिक महसूस करते हैं तो हम दु:खी होते हैं। और जब यह विचार बन जाता है कि क्या है, संसार असार है, सब भिन्न है, हो गया जो कुछ हो गया। वे मुझसे तो सब न्यारे ही हैं। मैं तो देह से निर्मल केवलज्ञान हूँ, मैं इतना ही हूँ, मेरा क्या बिगाड़ हुआ? एक विचार ही तो बनाया कि वे सारे संकट क्षणमात्र में नष्ट हो जाते हैं। तो मोह रागादिक उपद्रवों से संतप्त हृदय को शीतल करने वाला सम्यग्ज्ञान ही है।

आत्मपोषण के कार्य में संलग्न होने का अनुरोध- अब अपने आपके बारे में थोड़ा स्वयं विचार तो कर लो कि यहाँ काम दो ही तो हैं- शरीर का पोषण करना और एक अपने आत्मा का पोषण करना। इन दो कामों में शरीर के पोषण में कितना तन, मन, धन, वचन व्यय करते हैं और

इस आत्मा के पोषण में अर्थात् ज्ञानार्जन में कितना इन तन, मन, धन, वचनों का उपयोग करते हैं। वर्ष में बारह महीने होते हैं, इन बारहों महीनों में शरीर के पोषण में कितना समय व्यतीत होता है और ज्ञानार्जन के काम में कितना समय व्यतीत होता है? इस पर जरा विचार तो करें। वर्ष में एक दो माह के लिए किसी सत्संगति में ज्ञानार्जन के उद्देश्य से रहना चाहिए। योग्य सत्संग से ज्ञान और ध्यान की प्रेरणा मिलती रहती है। शेष 11 महीनों में एक दो घंटा नियमित ज्ञान की साधना और उपासना में लगायें। इस प्रकार अपने ज्ञान द्वारा अपने आपके पोषण के लिए सभी प्राप्त हुए समागमों का अधिक से अधिक सदुपयोग कर लें। इन सर्व प्राप्त हुए समागमों से अपने आत्मतत्त्व की प्राप्ति का उपाय बना लिया जाय तो इससे बढ़कर भी कोई पुरुषार्थ हो सकता है क्या? ऐसे ही उपायों से प्रारम्भ करके जिन्होंने आत्मध्यान और नि:संगता का आलम्बन लिया है वे योगीश्वर धन्य हैं, और ऐसे योगीश्वर इस कामवाण से उत्पन्न हुई पीड़ा को शमन करे। यह ब्रह्मचर्य व्रत का प्रकरण है ना, तो जिसका प्रकरण हो उसका ही तो पालन किया जाता है। ऐसे योगीश्वरों के ध्यान से मेरे चित्त में कामविकार की गंध भी न रहे, ऐसी वाञ्छा रखते हुए भक्तजन उन योगियों के गुणों का अनुराग कर रहे हैं।

श्लोक- 811

चञ्चद्भिश्चिरमप्यनङ्गपरशुप्रख्यैर्वधूलोचनै-
र्येषामिष्टफलप्रद: कृतधियां नाच्छेदि शीलद्रुम:।
धन्यास्ते शमयन्तु सन्ततमिलद्दुर्वारकामानल-
ज्वालाजालकरालमानसमिदं विश्वं विवेकाम्बुभि:।।

अखण्ड शीलवंत संतों को धन्यवाद- जिन मनुष्यों का शीलरूपी वृक्ष कामकुठार से नहीं छेदा गया वह महाभाग धन्य है। शील तो स्वभाव का है, परम निश्चय से देखा जाय तो आत्मा का शील है आत्मा का चैतन्यभाव। चिन्मात्र सच्चिदानन्दस्वरूप। वही है शील और उस शील की रक्षा करने के लिए व्रत परिणाम करना, संयम से रहना ये सब साधन हैं और उन सब साधनों में सर्वोच्च साधन है ब्रह्मचर्य। ब्रह्मचर्य महाव्रत के धारण से जिनका शीलरूपी वृक्ष इन चंचल और चमकते हुए काम कुठारवत् स्त्रीनेत्रों से नहीं छेदा गया वे महाभाग धन्य हैं। प्रकरण साधुवों को समझाने का है। यों तो शीलव्रत को जो मनुष्य जो महिला पालें वे धन्य हैं। शीलपालन से एक ऐसी चित्त में स्थिरता आती

है कि यह शील इष्ट फल को देने वाला है। इष्ट क्या है जीव को? शान्ति। शान्ति में साधक है यह ब्रह्मचर्य। एक अद्‌भुत विशेष साधकतम है। जो पुरुष कामी होते हैं, चित्त में विकारभाव रखते हैं अथवा उस विकार पोषण का यत्न करते हैं ऐसे पुरुषों का चित्त अस्थिर रहता है, और अस्थिर चित्त में आत्मा के शुद्ध परिणाम की वृत्ति नहीं जगती है। ऐसे मुनिराज, ऐसे योगिराज निरन्तर मिलने वाली तो काम अग्नि की ज्वाला, उसके समूहों से जो जल रहा जगत इसको वे विवेकरूपी घड़े से शीतलता प्रदान करें। जिस मनुष्य के पास बैठो तो बहुत काल तक संगति करने से उसका कोई से कोई गुण अपने में आ जाता है अर्थात् उसकी तरह अपनी भी आदत बन जाती है। परम ब्रह्मचर्य के पालन करने के लिए एक तो ब्रह्मचर्य की जो मूर्तियां हैं ऐसे साधु संतजनों के समागम में रहें और अपना उपयोग किसी न किसी कार्य में लगाये रहें। जैसे गृहस्थजन हैं तो धन कमाने के समय धन कमाया, उपकार के समय उपकार करें और धर्म के समय धर्म करें, और, और भी जान जानकर कोई उत्साह समारोह और अनेक प्रकार के उद्यम बनायें रहें। उपयोग लगा रहेगा तो ये काम विकार उसे न सता सकेंगे, और फिर दसलक्षण धर्मों में अन्तिम धर्म बताया है ब्रह्मचर्य। और, सभी धर्मों की एक एक जाप होती है, तो ब्रह्मचर्य की जाप है- ॐ परमब्रह्मचर्ये उत्तमधर्म धर्मांगाय नमः। इस मंत्र का भी जाप रखें। जिस किसी भी प्रकार हो चित्त में ऐसी रुचि जगे कि मेरे निष्कामता अधिकाधिक प्रकट हो। उसही प्रसंग में ब्रह्मचर्य व्रत के प्रकरण को पूर्ण करते हुए आचार्यदेव कह रहे हैं कि ऐसे योगिराज उनका सत्संग, उनके वचन, उनके विवेकरूपी घड़े से मुझे शीतलता प्राप्त हो।

दुःखों का आधार इन्द्रियविषयरुचि- मनुष्य को और दुःख क्या है, सिवाय पञ्चेन्द्रिय के विषय और छठा मन। इन 6 विषयों से ये सारा जगत पीड़ित है, किसी को भी निरख लो, स्पर्शनइन्द्रिय का विषय तो है कामविकार। वैसे और भी विषय हैं- ठंडी, गर्म, कोमल, कड़ी आदि चीजें सुहाना ये भी सब विषय हैं। और, विषय तो परिस्थितिवश होते हैं पर कामविकार सम्बन्धी विषय तो व्यर्थ ही मन में विचार हुआ, जिसकी न जड़, न शाखा, न पत्र, न फूल, न फल, केवल एक भाव जगा और व्यथित हो जाते हैं। रसनाइन्द्रिय का विषय है स्वादिष्ट चीज का रस लेना। मनुष्य को ऐसी तृष्णा लग गयी है कि उसे यह मालूम पड़ जाय कि अमुक चीज में ज्यादा खर्च होता है तो उसका उसे ज्यादा स्वाद आता है। वहाँ कोई बहुत ईमानदारी से सोचे तो साधारण सात्विक जो भोजन है सूखी रोटी उसके स्वाद को हलुवा पूड़ी ये नहीं पा सकते। कुछ थोड़ा शान्त होकर देखो तो। इसका एक मुख्य प्रकरण तो यह है कि पेट भर जाने पर अभी रोटी साग थोड़ा खा जाया जा सकता है पर हलुवा पूड़ी तो पेट भर जाने पर तनिक भी नहीं चलता। अनुभव करके सोचो तो जिसमें अधिक पैसा लग गया है उसमें यह अधिक स्वाद मानता है। तो इस स्वाद में आसक्त होना यही है रसनाइन्द्रिय का विषय। घ्राण इन्द्रिय के विषय हैं- इत्र, तेल, फुलेल, सुगंधित पुष्प, और और भी

सुगंधित चीजें। इन विषयों के भोगने के लिए यह जीव अनेक प्रकार के साधन जुटाता है। नेत्रइन्द्रिय का विषय है रूपवान पदार्थ को निरखना। यह भी कितना उजड्ड विषय है। पदार्थ दूर है और नेत्र इन्द्रिय से देखकर अपने विषय का पोषण करता है। सिनेमा वगैरह में क्या है? एक पर्दा लगा है, उस पर जो चित्रों की छाया पड़ती है उसी को निरखकर लोग खुश होते हैं? अनेक पुरुष तो ऐसे हैं कि जो अपनी क्षुधा को नहीं मिटा सकते, पर सिनेमा देखे बिना उन्हें चैन नहीं पड़ती। सिनेमा हाल में देखो तो जितनी संख्या रिक्शा चलाने वालों की या मजदूरों की मिलेगी उतनी संख्या रईस लोगों की न मिलेगी। तो जो व्यर्थ व्यय कर रहे हैं यह उनकी उद्दण्डता ही तो है। श्रोत्रइन्द्रिय का विषय है राग रागिनी की बातें सुनना। जिसमें चित्त में राग उत्पन्न हो, मोह उत्पन्न हो ऐसे वचनों का श्रवण करना सो कर्णइन्द्रिय का विषय है।

मनोविषय की दु:खरूपता व विषयविजेताओं को धन्यवाद- मन का विषय तो इन सब विषयों से भी अधिक उद्दण्ड व खोटा है। इस मन की प्रेरणा इन पंचेन्द्रियों से मिलती है तो और उत्तरोत्तर जागृति होती जाती है। मन का विषय क्या है? इज्जत चाहना, यश चाहना, नाम चाहना, यह सब मन का विषय है। इस मन के विषय ने भी इन जगत के जीवों को पीड़ित कर रखा है। ये साल दो साल के बच्चों का भी मन देखो कितना विकट है? गोद से अगर माँ नीचे उतार दे तो वह भी उसमें अपना अपमान महसूस कर रोने लगता है। तो मन के विषय से ये बच्चे, जवान, बूढ़े सभी सताये गए हैं। यों छहों विषयों के अधीन होकर यह सारा जगत दु:खी है। यह विषयों का भार न रहे तो यह इसी समय प्रभुता को पाया हुआ है। प्रभुता नाम किसका है? विकारभाव न जगे इसी का नाम प्रभुता है। पूर्णरूप से स्वच्छ हो जाय वही परमात्मतत्त्व है। न इन विषयों के अधीन रहे, न इन रागादिक भावों के अधीन रहे, केवल शुद्ध ज्ञानमात्र अपने आपका परिणमन करे तो वही उसकी स्वाधीनता है। इन विषयों को जिसने जीता है और एक ज्ञानमात्र स्वात्माराम में मग्न रहा करते हैं वे योगीश्वर इस संतप्त हुए जगत को विवेकरूपी घड़े से शीतलता प्रदान करें अर्थात् उन योगिराजों के वचनों से विवेक उत्पन्न हो और इन संसार के संतापों को दूर करें।

श्लोक- 812

यदि विषयापिशाची निर्गता देहगेहात्
सपदि यदि विशीर्णो मोहनिद्रातिरेक:।

यदि यदि युवतिकरङ्के निर्ममत्वं प्रपन्नो
झगिति ननु विधेहि ब्रह्मबीथीविहारम्।।

विषयपिशाच से दूर होकर ब्रह्मवीथी में विहार करने का अनुरोध- हे आत्मन् ! यदि तेरे देहरूपी घर से विषयरूपी पिशाचिनी निकल गई हो तो तू ब्रह्म की गली में यथेष्ट विहार कर, तुझे किसी भी प्रकार का विघ्न न होगा। कोई अटपट बोले तो उसे निरखकर लोग कहा करते हैं कि इसके पिशाचिनी लग गयी, भूत लग गये। और, आजकल तो यह बात बहुत देखने सुनने में आने लगी है कि जिस चाहे के भूत लग जाता है। और भूत लगने के साधनभूत हैं ऐसे कुछ तीर्थक्षेत्र। वे भूत लगवाते रहते हैं, किस तरह यह बात फैल गई कि वहाँ जावोगे तो भूत मिट जायेगा, तो पहला भूत तो यह मन में आ गया और फिर जरा सी अटपट बात बनी तो फिर उस पर भूत का सन्देह हो जाता है। और, यह दिल का रोग ऐसा होता है कि झट इस बात पर दृष्टि जाती कि अरे भूत लग गया। और, भूत लगता अधिकतर किन्हें? महिलावों के। ऐसे सुनने में आया है कि पुरुषों के तो यह भूत कम लगता, पर महिलावों के ज्यादा लगता है। महिलावों के भूत लगने का कारण शायद यह हो कि देवरानी जेठानी को छकाने का उपाय बना लेती हो। भूत लग गया, अटपट बोलने लगी, लो देवरानी जेठानी सभी हाथ जोड़कर सामने बैठ जायेंगी। अरी तू कौन देवी है, बता तो सही, तू कैसे मेरा पिण्ड छोड़ेगी। तो शायद इस बात के लिए भूत सवार हो जाता हो। और, कुछ वह दिल का रोग इस किस्म का होता है कि उसे कुछ नहीं सुहाता, भौचक्का सा हो जाता है। कुछ ऐसी परिणति हो जाती कि जरा-जरा सी बात में इस इस तरह के भूतों का सन्देह लोग बना लेते हैं। पर असली पिशाचिनी कौन है? वह है विषय। पञ्चेन्द्रिय और मन का जो विषयभाव जगता है पिशाचिनी तो वह है। यदि यह पिशाचिनी इस आत्माराम से निकल गई है, देहरूपी घड़े से निकल गई है तो हे आत्मन् ! अब ब्रह्मचर्य अंगीकार करने में ढील मत कर। ब्रह्मचर्यरूपी किले में विहार कर अर्थात् ब्रह्म मायने आत्मा में आत्मस्वरूप में तू अपने उपयोग को निर्विघ्न होकर लगा, तेरे ध्यान की सिद्धि होगी। यदि मोहरूपी निद्रा का व्यतिरेक दूर हो गया हो तो तू इसके स्वरूप में विहार कर।

मोहनिद्रा भंग करके ब्रह्मवीथी में विहार करने का अनुरोध- जब तक मोह लगा रहता है तब तक जीव बेसुध रहता है। वह अपने में आया कहाँ से? मोह में बुद्धि भ्रष्ट सी हो जाती है, न्याय और अन्याय का कुछ विवेक नहीं रहता। मोह नाम है पदार्थ की स्वतंत्रता नजर में न आये और एक दूसरे का कुछ है, हितकारी है, इस प्रकार का सम्बन्ध समझ में आये, उस सम्बन्ध को ही तथ्यभूत मानना ऐसे परिणाम का नाम है मोह। मोह और राग में यही अन्तर है। यद्यपि लगता ऐसा

है कि किसी चीज में राग अधिक हो गया तो वह है मोह और राग कम है तो वह है राग, पर राग का स्वरूप और मोह का स्वरूप जुदा-जुदा है। पदार्थ जिस भाँति का है उस भाँति बोध न होना इसका नाम है मोह और प्रेमरूप परिणाम जगे तो उसका नाम है राग। अथवा यों कह लीजिए कि राग में भी राग जगे, राग को हटाने का भाव मन में न आये, उस राग को ही अपना स्वरूप माने उसका नाम है मोह। मोह न हो और राग रहे ऐसी भी स्थिति हो सकती है और मोह रहे, राग रहे ऐसा तो होता ही है। सम्यग्दृष्टि पुरुष ज्ञानी गृहस्थ, उसके भी राग है कि नहीं? अरे घर में रहे, घर के सारे व्यवहार करे, बोलचाल करे, तो राग तो है पर मोह नहीं है। मोह का सम्बन्ध अज्ञान से है। राग का सम्बन्ध प्रीति से है। कोई रईस पुरुष बीमार हो गया, बुखार आने लगा तो उसके आराम के लिए कितने-कितने उपाय रचे जाते हैं- अच्छा कोमल बिस्तर मिले, समय पर औषधि मिले, मित्रजन खूब दिल बहलायें, नौकर-चाकर बड़ी सेवा करें, डाक्टर भी बड़ी देखरेख करते हैं, बड़े आराम के साधन जुटाते हैं, यदि समय पर दवा न मिले तो वह बीमार पुरुष झुँझलाता भी है, कितना राग है उसे उस औषधि से? पर जरा सोचो तो सही कि क्या वह चाहता है कि मुझे सदा ऐसी औषधि का सेवन करने को मिले? क्या वह चाहता है कि इसी प्रकार आराम से हम रहें? अरे वह तो चाहता है कि कब ये सारे झंझट छूटें और मैं दो चार मील रोज रोज घूमूँ। तो उस बीमार पुरुष को उन सारी चीजों में मोह नहीं है, हाँ रागांश अवश्य है। ऐसे ही जो निर्मोह गृहस्थ हैं उनके भी परिस्थितिवश राग लगा रह सकता है और यह राग भी उसके सूखने के लिए रहता है, राग बढ़ाने के लिए वह राग नहीं करता। ज्ञानी गृहस्थ को तो राग कभी करना ही पड़े तो करता है राग, पर वह अन्दर में ऐसा भाव रखता है कि हे भगवन् ! कब इस झंझट से मुझे छुटकारा मिले। वह तो उस राग से निवृत्त होना चाह रहा है। वह राग करते रहने के लिए राग नहीं करता बल्कि राग से निवृत्त होने के लिए राग करता है। तो हे आत्मन् ! यदि तेरे मोहनिद्रा की तीव्रता विपीर्ण हो गयी हो तो तू अब ब्रह्मवीथी में विहार कर। और, देख यदि युवती के शरीर में तू निष्पृहा को प्राप्त होता है तो शीघ्र ही इस ब्रह्मचर्य की गली में विहार कर। यदि इस तरह की तेरी तैयारी है, तेरे हृदय में स्वच्छता हुई है तो तू परमब्रह्मचर्य का पात्र है। अपने आत्मस्वरूप में मग्न होकर समस्त संकटों को दूर कर ले।

श्लोक- 813

स्मरभोगीन्द्रदुर्वारविषानलरालितम्।
जगद्यै: शान्तिमानीतं ते जिना: सन्तु शान्तये।।

जगज्जयी जिनेन्द्रदेव से शान्तिकामना- यह इस प्रकरण का अन्तिम श्लोक है। कामरूपी सर्प के दुर्निवार विषरूपी अग्नि की ज्वाला से जाज्वल्यमान इस जगत को जिन महात्मावों ने शान्तरूप किया वे जिनेन्द्र, वे योगीश्वर शान्ति करने वाले हों अथवा मुख्यतया शान्तिनाथ, जितेन्द्रनाथ का स्तवन कर लो। शान्तिनाथ का दूसरा नाम है जगन्नाथ। और, यह नाम क्यों प्रसिद्ध हुआ कि शान्तिनाथ भगवान कामदेव थे, चक्रवर्ती थे, 6 खण्ड के अधिपति थे और तीर्थङ्कर भी थे। तो किसी दृष्टि से 6 खण्ड के अधिपति होने से बड़े नाथ कहलाये और तीर्थंकर होने से तो तीन लोकों के नाथ कहलाये। शान्तिनाथ की जगन्नाथ के नाम से भी प्रसिद्धि चली आयी है। जैसे चन्द्रप्रभु का दूसरा नाम है सोमनाथ। सोमवार अर्थात् चन्द्रवार। यह चन्द्रवार सोमवार का पर्यायवाची शब्द है। यहाँ शान्तिनाथ भगवान का स्तवन किया जा रहा है कि हे शान्तिनाथ भगवान आपने स्वयं अपने आपका परम आनन्द पा लिया है। अतएव अब आपके स्मरण से दुर्धर कामविषज्वाला से जलित ये समस्त जगत विकार आपके स्मरण के प्रसाद से दूर हों। यह ग्रन्थ ध्यान का है, इसमें ध्यान का वर्णन किया गया है कि कैसा जीव आत्मा का ध्यान कर सकेगा उसे आगे कैसी तैयारी करना चाहिए, किस प्रकार का उपाय करना चाहिए, ध्यान के सम्बन्ध में करीब 2 हजार से भी अधिक श्लोकों में इस ग्रन्थ में वर्णन किया गया है। लोक में एक आत्मध्यान ही शरण है। दृष्टि पसारकर चारों ओर निरख लो कोई भी वस्तु, कोई भी कुटुम्बी, कोई भी जीव इस जीव का शरण नहीं बन सकता। शरण तो क्या जितना स्नेह दिखाया उतना ही यह रीता होता गया, वहाँ से धोखा मिलता गया। तब खूब भटककर भी समझ लो कि बाहर में अपना कोई शरण नहीं है, अपना शरण एक अपने आत्मस्वरूप का ध्यान है।

आत्मध्यान के प्रसाद से शाश्वत शान्ति के लाभ लेने में परमकल्याण- ध्यानों में ध्यान आत्मध्यान ही है। वह आत्मध्यान कैसे प्राप्त हो? आत्मध्यान का पात्र कौन होता है, इन सबका वर्णन किया गया था। और, ध्यान के साधनों में मुख्य तीन बातें बताई गई हैं। वे तीन बातें हैं- प्राणायाम, धारणा और प्रत्याहार। यम नियम आदिक बताये गए हैं ना, उनसे भी अधिक उपयोगी तीन साधन है- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। अरे ध्यान करना है ना आत्मा का तो पहिले यह आत्मतत्त्व का विश्वास तो बना लें कि यह मैं क्या हूँ, क्या विश्वास के बिना भी किसी पदार्थ में चित्त एकाग्र हो सकता है? तो पहिले आत्मतत्त्व का विश्वास बनायें इस ही का नाम है सम्यग्दर्शन। क्या है आत्मा का स्वरूप, इसका पूर्णरूप क्या अर्थात् रूप क्या? अद्वैतरूप क्या, इसके प्रदेश गुण पर्याय सबके बारे में यथार्थ ज्ञान बनायें और फिर इस ही प्रकार का ज्ञान बनाये रहने के लिए बाह्य में सम्यक्चारित्ररूप प्रवृत्ति करें। उस सम्यक्चारित्र में पंचमहाव्रतों का वर्णन किया जा रहा था, उसमें यह चतुर्थव्रत ब्रह्मचर्यमहाव्रत का वर्णन है। जो पुरुष ब्रह्मचर्यव्रत की दृढ़ साधना रखते हैं

उन मुनिराजों के निकट रहकर जो कोई सेवा करें उनका भी ब्रह्मचर्य दृढ़ होता है, और इस ब्रह्मचर्य के प्रसाद से उत्तरोत्तर ज्ञानविकास करके यह मुमुक्षु परमार्थ ब्रह्मचर्य की साधना कर लेता है। इसी कारण इस ब्रह्मचर्यव्रत का एक विशेष वर्णन के साथ वर्णन किया गया है। इसमें अनेक बातें बारबार कही गई हैं। तो जो हितरूप बात है उसके बारबार कहने पर भी पुनरुक्ति दोष नहीं आता हैं, ऐसा इस परमब्रह्मचर्यव्रत के सम्बन्ध में आचार्यदेव ने सविस्तार वर्णन किया। हम इन पंचव्रतों में शक्ति के अनुसार अपनी शक्ति न छुपाकर अधिकाधिक यत्न करें और यह लक्ष्य रखें कि मेरे जीवन का उद्देश्य आत्मध्यान का है, मैं इस आत्मा को पहिचानूँ और उसमें ही लीन रह सकूँ, ऐसे उस निर्दोष उद्यम को करें, इससे ही अपने जीवन का उद्धार है।

।।ज्ञानार्णव प्रवचन दशम भाग समाप्त।।